

# सिद्धान्त सूक्ति

श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य विरचित  
सिद्धान्तमुक्तावली, नवरत्न, एवं जलभेद ग्रंथोंके  
आधान पर

०

०

०

०

०

०

०

०

०

०

०

०

०

०

गोसामी श्याम मनोहर

सहयोग प्रकाशन:  
श्रीमति वासन्ती सोढानी  
ए.३/जी.२ दिलशाद गार्डन, दिल्ली-११००९२

प्राप्तिस्थल:  
गोस्वामी श्याममनोहर  
६३, स्वस्तिक सोसाइटी,  
४था रास्ता, जुहुस्कीम,  
मुंबई-४०००५६

लेखक: गोस्वामी श्याममनोहर  
अनुवादक: अशोक शर्मा

प्रकाशन वर्ष : वि.सं. २०६२

प्रति: ११००  
निःशुल्क वितरणार्थ

मुद्रक: जी. एन. प्रिन्ट्स, २९९४/१,  
मस्जिद खजूर, धर्मपुरा, चावड़ी बाजार,  
दिल्ली - ११०००६

## सिद्धान्तमुक्तावली

१. कर्णको स्वयंके अकुलीन होनेकी भ्रमणा थी. इसी प्रकार यह देह मैं हूँ ऐसी भ्रमणा सबको है.

२. मायावादी देह और जगतको भ्रमणात्मक बंधन मानते हैं. इसलिये उसका उपाय उनके लिये ज्ञान है. सांख्यमें देहको वास्तविक बंधन मानते हैं. इसलिये उनकेलिये उसमेंसे छूटनेका उपाय योग वैराग्य है. मीमांसक जगत कर्मसे बना है ऐसा मानते हैं. बाढ़ अकाल वगैरह पूर्व जन्मके दुष्कृत्योंके कारण होते हैं ऐसा मानते हैं. इसलिये उनकेलिये सत्कर्म ही उपाय है. विज्ञान मानता है कि जड़ प्रकृतिके नियमोंपर जगत चलता है. इसलिये इन नियमोंपर जितना काबू उतना ही हमको अधिक सुख. जैसे रोगके मुताबिक दवा वैसे ही जगतका स्वरूप तुम कैसा मान रहे हो अथवा ब्रह्मका कौन सा अंग तुम्हें अधिक प्रभावित करता है उसपर साधना आधारित होती है.

३. वैज्ञानिकोंकी ऐसी मनोवृत्ति होती है जैसे अंधेरेमें बस लुढ़कनेके कारण धीरे धीरे सरक रही हो. बाहर सर्वत्र अंधेरा ही अंधेरा है कुछ दिखाई नहीं देता. यह होते हुये भी उनकी दृष्टिमें उपाय मात्र एक स्टीयरिंगपर काबू पाना ही है.

४. जिस प्रकार यशोदाजीने श्रीकृष्णको बांधनेकेलिये अनेक रस्सियोंका उपयोग किया और हरेक रस्सी दो अंगुली छोटी पड़ी वैसे ही प्रभुको पानेके हरेक नियम या मार्ग अधूरे ही हैं. यह होते हुये भी प्रभु अपनी कृपा दयासे बंध रहे हैं.

५. हम जितना जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं उतना ही ब्रह्म नहीं है, ब्रह्मके अनन्त पहलू हैं जो हम न तो समझ सकते हैं और न ही उसे बांध सकते हैं.

६. प्रभुके अनन्त नामोंमें कृष्ण नाम फलात्मक है. कारण कि वह नाम बोलकर कुछ प्राप्त नहीं करना है, खाली बोलने मात्रसे ही आनन्द प्रकट हो जाता है.

७. जिस प्रकार मनके आनन्दको अभिव्यक्त करनेकेलिये हम लोग गुनगुनाते हैं और वह गीत गानेका कारण मात्र मस्ती ही है ऐसा गीत फलात्मक है. ऐसे गीत गाते समय कोई वाह भी कह दे तो अपनेको वह तारीफ आनन्द नहीं देती लेकिन मस्तीकी धारामें रुकावट डालती है. लेकिन पार्श्व गायकके लिये इसका बिल्कुल उलटा है. उसका प्रयोजन खाली प्रशंसा प्राप्त करना ही है. उसी प्रकार फलात्मक नाम कृष्ण लेनेका कारण मात्र हृदयकी मस्ती, प्रेम ही है.

८. गोविन्दस्वामी अपनी मस्तीमें प्रभुकेलिये भैरवी राग गा रहे थे. तब पेड़की ओटमें छिपे खड़े अकबरने वाह कह दिया और गोविन्दस्वामीका उत्साह खंडित हो गया. उन्होंने कहा **भैरवीराग छु गयो** और इसके बाद भैरवी उन्होंने कभी नहीं गाया.

९. सेवा स्वयंमें पुरुषार्थ है. हम सेवा करके कुछ प्राप्त नहीं करना चाहते. हम सेवा करते हैं कारण कि हमको वह अच्छी लगती है. वह करे बगैर हम रह नहीं सकते. **तुम सेवा किसलिये करते हो** ऐसा पूछनेवालेको जबाब देनेकी भी तुम्हें कोई गरज नहीं होनी चाहिये. **हम तो सेवा केवल समय बरबाद करनेके लिये करते हैं**, ऐसा कहनेका साहस और निश्चिंतता तुममें होनी चाहिये.

१०. जो शराबी अपनी मस्तीकेलिये पीता है वह पक्का शराबी. जो अपना गम मिटानेकेलिये पीता है वह कच्चा शराबी. जो अपने मजेके लिये खेले वह ही सच्चा जुआरी. उसे पैसा गंवानेके साथ कुछ लेना देना नहीं. लेकिन जो पैसा

हारने पर उठ खड़ा हो वह कच्चा जुआरी. वैसे ही सेवा करनेकेलिये की जाय वही सच्ची सेवा. उसके द्वारा कोई वस्तु, मुक्ति, मनकी शांति, पुण्य प्राप्त करना नहीं है.

११. सेवाके लिये कोई समयकी मर्यादा नहीं है. सेवा सतत चलनी चाहिये. अनौसरमें सेवाकेलिये तैयारी. सच्चे सेवकका हरेक कार्य सेवाकेलिये ही है. सच्चे सेवकका सोना, जागना, कमाने जाना, खाना, पीना सर्व कार्य अच्छी तरहसे कर पाये उसकेलिये ही है. जैसे सांस लेनेकी क्रिया सहज है वैसे ही सेवा उनकेलिये सहज है.

१२. हरेक व्यक्तिका सहज धर्म अलग है. किसीको एक दूसरेकी निंदामें मजा आता है. किसीके लिये राजनीति सहज है. किसीकेलिये सामाजिक बातोंमें रुचि सहज है. इस कारणसे जैसी जिसकी सहजवृत्ति वैसी बातें उसके मुँहमें बार बार आ जाती हैं. लेकिन सेवककेलिये सेवा ही जीवनकी सहज रुचि होनी चाहिये.

१३. जो दिखाई दे रहा है वह प्रपंच. जैसा दिखाई दे रहा है वह संसार.

१४. क्षत्रिय विवाहकेलिये अपनी तलवार भेज देता था. कारण क्षत्रियकेलिये तलवार सर्वस्व थी. कन्या तलवारको पतिका रूप मानकर विवाह कर लेती थी और क्षत्रिय भी तलवारसे ब्याही कन्याको अपनी करके मानता था. वैसे ही प्रभु स्वयं शिलामूर्ति बनकर अपनी सेवा स्वीकारते हैं तो हमको उनकी सामर्थ्यमें शंका नहीं करनी चाहिये.

१५. श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त ही जब मानसी सेवाका था तो उन्होंने शुरुआत क्यों शिलामूर्ति अथवा धातुमूर्ति अथवा चित्रसेवासे करायी? कारण कि मनमें से यह भेद निकल जाये कि ब्रह्म नहीं है और ब्रह्म तो कोई दूसरी ही दूरकी चीज है.

१६. नाटकमें अभिनेता जब अपने पात्रमें खो जाता है और अपने असली स्वरूपको भूल जाता है तब वह नाटकके आवेशमें आ जाता है. उसी प्रकार अपन तो पात्र हैं, प्रभु अभिनेता हैं. लेकिन लीलाके आवेशमें और अहंताके कारण हम अपनेको **अमुक** मान बैठते हैं. इस आवेशके कारण ब्रह्म ही सर्व है उसकी अनुभूति नहीं होती.

१७. अहंताकी धड़कन देहमें जानी जाती है और ममताकी धनमें. और देहका सेवामें कितना समर्पण होता है वह अहंताके समर्पणका मापदण्ड है और धनका अपने प्रभुके लिये कितना समर्पण होता है वह तुम्हारी ममताके समर्पणका मापदण्ड है.

१८. श्रीशंकराचार्यजीका सिद्धान्त है : ब्रह्मके परदेपर मायाका प्रोजेक्शन है, वास्तवमें वहां कुछ भी नहीं है, खाली सफेद परदा ही है. अपना सिद्धान्त नाटकका सिद्धान्त है : नाटकमें अभिनेता सच्चा, उसका मेकअप सच्चा, उसका बोलना चलना सच्चा यह सब सच होते हुए भी सब नाटक है और करनेवाला ब्रह्म है.

१९. छोटे बच्चे घर घरका खेल खेलते हैं तब वे जो भी पात्र बनते हैं उसे असल रूपमें निभाते हैं, वैसे ही हे प्रभु भले ही यह तेरी लीला है; मैं भक्तपन निभाता हूं तो आप अपना प्रभुपन. (अपनी भक्ति सच्ची हो तो हम प्रभुको ऐसा कह सकते हैं).

२०. सेवामें हम प्रभु संबंधित सर्व वस्तुओंको स्वरूपात्मक मानते हैं. झारीजी **लाओ** नहीं कहते **पधराओ** कहते हैं. श्रीठाकुरजीकी सेवामें या उनके वस्त्र, पादुकाजीकी सेवा सबको एक ही गिनते हैं अर्थात् श्रीठाकुरजी और उनसे संबंधित वस्तुमें अभेद है. अनुभव भले ही जड़ जैसा होता हो लेकिन भाव चेतनका ही होता है. धीरे धीरे भाव बढ़ता जायेगा और

उसका फैलाव बढ़ता जायेगा और अंतमें जगतकी कोई भी वस्तु प्रभुके संबंध बिनाकी नहीं लगेगी और यही होता है **सर्वात्मभाव**.

२१. ज्ञारीजीमें श्रीयमुनाजीकी भावना, गादीजीमें श्रीयशोदाजीकी गोदकी भावना वगैरह शुरूमें कठिन लगेगी लेकिन धीरे धीरे भाव सिद्ध हो जाता है. शुरूमें भाव नहीं होता, भावना करते हैं. जो कर रहे हैं वह भावना है, जो होने लग जाये वह भाव है. भावना नदी जैसी है, उसमें घटबढ़ हो सकती है. भावना मनकी शांति, संजोगोपर आधारित है, जबकि भाव समुद्र समान है, उसमें घट बढ़ नहीं होती. आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भावना करते रहनेसे भाव सिद्ध होता है.

२२. बादल अनेक स्थानोंपर बरसते हैं. कुछ तो सीधे सागरमें ही बरसते हैं. ऐसा जल पुष्टिजीवोंके समान है जो सीधे प्रभुको ही मिलते हैं. कुछ बादलोंका जल पर्वतपर पड़ता है. वहांसे झरने, छोटी मोटी नदी द्वारा लम्बी यात्राके बाद समुद्रमें मिलता है. यह जल मर्यादा-जीवोंके समान है. जबकि कुछ जल तालाब, कुंडमें बरसता है जो सूख कर नष्ट हो जाता है. यह जल प्रवाहीजीवोंके समान है.

२३. ब्रह्मसंबंधमंत्रमें **मैं दास हूं** ऐसा मात्र कहनेसे क्या दासपना आ जाता है? उसके लिये तो दासके अनुरूप व्यवहार करना पड़ता है.

२४. ब्रह्मसंबंध मंत्रमें **दासका** स्मरण क्यों कराया गया? अंशका स्मरण क्यों नहीं कराया? **मैं अंश हूं** ऐसी अहंता तो ज्ञानी, भक्त, प्रवाही सबमें बराबर है. लेकिन पुष्टिमें खास विशिष्ट अहंता दासकी है.

२५. ग्रीनरूममें डायरेक्टर कहता है कि **तू राम बनना, तू रावण....** ऐसे जो सूचना देते हैं उसको सब अनुसरते हैं. उसी

प्रकार प्रभुने जब एकमेंसे अनेक किये तब कुछ जीवोंको चुना कि इनको मैं अपना दास बनाऊंगा, अपना कार्य कराऊंगा. मर्यादामार्गीय जीवोंको प्रभुने ऐसा रोल दिया कि तू उपासक और मैं तेरा उपास्य. कर्ममार्गीयोंको तू कर्मी और मैं तेरा कार्य और प्रवाही जीवोंको तू मुझे गाली दे जो मैं सहन करूंगा, तू मुझे भूलकर भटकते रहना. ऐसे सबको अलग अलग रोल दिये. इन सबमें शायद प्रवाही जीव ही अपना धर्म बराबर निभाते है.

२६. लीलासे बाहर भागना अर्थात्? मुक्त होनेकी इच्छा. मुक्तिमें भी यदि सायुज्य हो तो ही वह लीला नहीं है लेकिन सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्णिक मुक्ति यह लीलाका ही भाग है. लेकिन वह ऊपरकी लीला है, भूतलकी नहीं. श्रीमहाप्रभुजीने निबंधमें कहा है कि मुक्त जीवोंकी भी अपनी सृष्टि है और बद्ध जीवोंकी भी अपनी सृष्टि है.

२७. अहंता ममताकी निवृत्ति नहीं करनी है लेकिन अहंता ममतात्मक संसारकी निवृत्ति करनी है. अहंता ममता सत्य है. उनकी मददसे अर्थात् उनको सेवामें जोड़कर दासपनेको निभाना है.

अ) रस्सीमें सर्पकी भ्रांति होती है. रस्सी और सर्प दोनों सत्य हैं. यदि सर्प दुनियांमें ही न होता तो उसकी भ्रांति भी कैसे होती? लेकिन रस्सीको सर्प मानना गलत है.

आ) अहंता सत्य है, उसका विषय सत्य है लेकिन देहमें अहंता रखनी गलत बात है.

इ) टिकट गलत नहीं है, सीट गलत नहीं है लेकिन एक यात्राके लिये ली हुई टिकटके कारण हमेशाकेलिये उस सीटको अपनी मान लेना गलत बात है.



ई) घर सच्चा है; मैं सच्चा हूं लेकिन मेरा घर मिथ्या है. देह सीट है और अहंताममता जन्मभरकी यात्राकी टिकट है. देह तुम्हारी नहीं है लेकिन इस जन्मकी यात्रा करनेकेलिये उसका उपयोग कर सकनेके अर्थमें तुम्हारी है.

२८. हमेशा सेवाके आवेशमें रहनेवाले जीवकी संसारमें ममता घट जाती है और इष्ट-अनिष्टका भी भान नहीं रहता. इसमें कोई चमत्कारकी बात नहीं है. जैसे कोई गुंडा क्रोधावेशमें हो तब मारपीट खून करते समय उसे अपने स्त्री-पुत्रकी ममता याद नहीं रहती और इष्ट-अनिष्टका भी ध्यान नहीं रहता.

२९. सब कुछ ब्रह्म ही है. कुछ भी नया पैदा नहीं होता, कुछ भी नष्ट नहीं होता. विज्ञान भी यही कहता है कि ऐनर्जी नाशको प्राप्त नहीं होती खाली वह दूसरे स्वरूपमें परिवर्तित हो जाती है. द्रव्य कायम रहता है, खाली उसका स्वरूप, आकार बदलता है. जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती हैं और खत्म होती हैं लेकिन समुद्र रूपी द्रव्य तो वैसाका वैसा ही रहता है.

३०. परब्रह्म फूल है, सच्चिदानंदरूपी अक्षरब्रह्म उसकी सुगंध है. परब्रह्म सूर्य है, अक्षरब्रह्म उसका प्रकाश है. जितनी सुगंध पुष्पमें है उतनी उसके आस पास फैले वातावरणमें नहीं होती यह तो स्वभाविक है. उसी प्रकार आनंदकी जो मात्रा परब्रह्ममें है उसकी तुलनामें अक्षरब्रह्ममें थोड़ी कम है.

३१. जब सब ब्रह्मात्मक लगता है तब वह ज्ञान सुगंधका है. अर्थात् सुगंध (अक्षरब्रह्म) आ रही है और पुष्प (परब्रह्म) को हम खोज रहे हैं.

३२. ब्रह्ममें जब चित्त एकाग्र होगा तब आत्माके अंदरसे प्रवाह आयेगा और सम्पूर्ण जगतमें छा जायेगा. बादमें तुम्हारे

अंदर संवेदनशीलता खिल जायेगी और ब्रह्मका अनुभव करनेकी तुम्हारेमें तत्परता आयेगी.

३३. जिसे भस्मक रोग (अतिभोजन) हो जाता है वह चाहे जितना खाये परन्तु वह उसके अंग नहीं लगता, वह खुद तो दुबला ही रहता है. उसी प्रकार आजकल प्रवचन करनेका और सुननेका सबको भस्मक रोग हो गया है. दो चार शास्त्र पढ़नेके बाद बकबक करनेका रोग लग जाता है. बादमें प्रसिद्धि और प्रवचनमें इतना समय निकल जाता है कि आगे अध्ययन करनेका मौका ही नहीं मिलता. उसी प्रकार सब जगह प्रवचन सुनते रहनेका बहुत लोगोंको रोग लग जाता है. वह सुननेसे आत्मा पुष्ट हो रही है अथवा नहीं ये सोचनेकी किसीको जरूरत नहीं है.

३४. अक्षरब्रह्मको जानकर कष्णका आनन्द लेना यह भक्ति है. उसी प्रकार कष्णको जानकर अक्षरब्रह्मका आनन्द लेना यह ज्ञान है.

३५. बहुतसे लोग कष्णकी लीला सुनकर उन्हें चाहने लगते हैं यह भक्ति नहीं है. उन्हें तो केवल कष्णकी हीरोगिरीसे प्रेम होता है. ऐसे तो अन्य दस हीरोकी कल्पना कोई भी लेखक कर सकता है. दूसरे कई लोग श्रीकष्णकी स्वरूपतः परब्रह्मके तौरपर स्तुति करते हैं परन्तु इनकी लीलाको मायिक अथवा उपासनार्थ कल्पित अथवा शाखारुन्धती न्यायसे सूक्ष्म विषयोंके प्रति ध्यान आकर्षित करनेकेलिये रूपकके तौरपर देखते हैं. (ज्ञातसे अज्ञातका पता लगाना शाखारुन्धती न्याय कहलाता है). इसमें वास्तवमें श्रीकष्णलीलाकी अपेक्षा ही नहीं है, तुम्हारी अथवा मेरी लीला भी तो आखिरमें परब्रह्मकी ही लीला है. इसलिये केवल लीला या केवल कष्ण नहीं लेकिन लीलाविशिष्ट कष्णका भजन अपना सिद्धान्त है.

३६. जिसके द्वारा कुछ खोजा जाता है वह मार्ग कहलाता है. भक्ति और भक्तिमार्ग दोनों अलग हैं. कर्मी और ज्ञानी भी भक्ति कर सकते हैं. आकाश खुला होते हुए भी विमान अपने निर्धारित कत्रिम मार्गपर उड़ता है. मार्ग अर्थात् साधककी एक निष्ठा कि मैं इस मार्गपर पुरुषोत्तमको खोजूंगा. इसलिये भक्तिमार्गीय, कर्म या ज्ञानकी खटपटमें नहीं पड़ेगा. जरूरत पड़नेपर कर्म करेगा लेकिन पुरुषोत्तमको दूसरे मार्गपर नहीं खोजेगा. उसी प्रकार ज्ञानमार्गीय भक्ति करेगा लेकिन उसकी पूरी झोंक भक्तिपर नहीं होगी. वह ज्ञानमार्गसे ही ब्रह्मको खोजेगा. भक्त चाहे जितना ज्ञान प्राप्त कर ले लेकिन वह ज्ञानमार्गीय नहीं गिना जायेगा कारण कि पुरुषोत्तमको खोजनेका मार्ग उसकेलिये भक्तिमार्ग ही है. वैसे ही ज्ञानी चाहे जितनी भक्ति करले लेकिन वह भक्तिमार्गीय नहीं है कारण कि ब्रह्मको खोजनेका सहज मार्ग उसके लिये ज्ञान है.

३७. अक्षरब्रह्म और परब्रह्म दो अलग वस्तु नहीं हैं. एक ही वस्तुके दो पहलू हैं.

३८. करुणता, भयंकरता, बीभत्सता किसीको भी अच्छी नहीं लगती लेकिन जब इसीको कलाकी दष्टिसे देखते हैं तो वह करुणरस, भयंकररस और बीभत्सरस बन जाता है. फिर तो उसमें जितनी करुणता, भयंकरता, बीभत्सता अधिक उतनी ही अधिक कलात्मकता.

प्रभुने यह जगत लीलार्थ प्रकट किया है तो हमको उसमेंकी हरेक वस्तुको कलाकी दष्टिसे देखना चाहिये. एक सूअरको देखकर हममें कितनी जुगुप्सा प्रकट होती है! तब प्रभुके प्रति कहना चाहिये बहुत अच्छा, हे प्रभु आपने इसमें जुगुप्साकी पराकाष्ठा बताई है. उसी प्रकार मोह मायासे उत्पन्न होती करुणता जब अनुभवमें आती है तब इस संसारके दुःखोंको

देखकर प्रभुको करुणरसकेलिये धन्यवाद देना चाहिये. जिस प्रकार फिल्ममें खलनायक लोगोंके हृदयमें तिरस्कारका भाव जितना अधिक उत्पन्न करता है उतना ही उसके रोलकी अधिक प्रशंसा होती है.

३९. श्रीशंकराचार्यजीको लगा कि ब्रह्ममेंसे इतना दुःखद नाशवंत संसार, जगत कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसलिये इस दुःखद जगतको उत्पन्न करनेका कार्यभार मायाको थमाया.

लेकिन श्रीमहप्रभुजी कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्ममेंसे पूर्ण जगत उत्पन्न होनेपर भी पूर्ण ब्रह्म निर्विकार रहा इसलिए सब खराब वस्तुएं भी ब्रह्मात्मक ही हैं.

यदि ऋषि दो रूप धारण कर सकते हैं, देवता अलग अलग स्थानोंपर एक ही रूपसे अनेक भक्तोंकी भक्ति स्वीकार सकता है; शारीरकभाष्यमें स्वयं श्रीशंकराचार्य ऐसा स्वीकारते हैं कि गंगाजी आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों रूप धारण कर सकती हैं. इन सबकी सामर्थ्यमें तुम्हें शंका नहीं होती तो केवल ब्रह्मके साथ आपको क्या द्वेष है? ब्रह्म क्यों एक रूपसे जगत बन कर दूसरे रूपसे विलक्षण नहीं रह सकता? जगतको मायाका कार्य किस कारणसे मानना चाहिये?

४०. जगतकी जो वस्तु हम समझ नहीं सकते (उदाहरणार्थ नींदमें देहकी क्रिया कौन करता है, पथ्वी अधरपर कैसे टिक रही है) उसके द्वारा ईश्वर है यह सिद्ध करना योग्य नहीं है. लेकिन जो जानते हैं, जो अनुभव कर रहे हैं उसके द्वारा ईश्वर है यह सिद्ध करना अधिक योग्य है क्योंकि जो आज समझमें नहीं आता वह कल समझ आ जाये और ब्रह्म तब कारण रूपमें नहीं प्रतीत हो तो ब्रह्मके अस्तित्वमें भी शंका होने लगेगी.

४१. ब्रह्म यह तो उपाधि है, श्रीकृष्ण उसका व्यक्तिनाम है.

४२. प्रभुकी उपाधियोंमें ब्रह्म, परमात्मा, भगवान, परमेश्वर, पुरुषोत्तम इत्यादिमें अनुक्रमसे अपेक्षा बढ़ती जाती है. ब्रह्म कहनेमें कोई अपेक्षा नहीं है. परमात्मा कहनेपर किसकी तुलनामें परम आत्मा ऐसा प्रश्न खड़ा होता है... और जब भगवान कहते हैं तब अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है. भगवान अर्थात् जो बंधन, मोक्ष, उत्पत्ति, लयको जानता हो अथवा ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य गुण जिसमें हों वह ज्ञेय (जानने योग्य) हो तो ज्ञानका गुण प्रकट होता है. विषय हो तो वैराग्य बताया जाता है. वीर्य, यश बतानेकेलिये भी कोई चाहिये. श्री देखनेकेलिये भी तो आंखें चाहियें. इन सबके अलावा अपने आपमें ब्रह्म हो सकता है लेकिन भगवान तो नहीं हो सकता. उसी प्रकार कुछ ईशितव्य हो तब ही कोई परमेश्वर हो सकता है. उसी प्रकार बहुत सारे पुरुष हों तब कोई उनकी तुलनामें पुरुषोत्तम हो सकता है.

४३. कवि माघने कौरवोंकी सभामें जब नारदजी आये उसका वर्णन इस प्रकार किया है : सबसे पहले जैसे तेजपुंज आता हो ऐसा लगा (अक्षरब्रह्म); और अधिक पास आनेपर देहकी आकृति दिखाई दी (परमात्मा); और पास आनेपर कोई तेजस्वी व्यक्ति है ऐसा लगा (भगवान); एकदम नजदीक आनेपर पता लगा कि नारदजी हैं (श्रीकृष्ण).

४४. घरके प्रति प्रेम होता है कारण कि शरीर उसमें रहता है. शरीर प्रिय है कारण कि उसमें आत्मा रहती है. आत्मा प्रिय है कारण कि उसमें परमात्मा है. प्रेमका मूल स्रोत परमात्मा है. वह अंदरसे बाहर विषयोंकी ओर बहता है. वह संसारप्राप्ति करानेवाला है. लेकिन जब बाहरसे अंदर बहता है तब वह भक्ति प्राप्त करानेवाला होता है. प्रेम तो वही है; लेकिन दिशा बदल जाती है.

४५. जिसे शहद एकत्र करना है उसे पुष्पपर बैठना ही पड़ेगा, जिसे खाली सुगंध प्राप्त करनी है वह फूलके आसपास रहकर भी प्राप्त कर सकता है. उसी प्रकार भक्ति करनी है तो उसे पुरुषोत्तम तलक पहुंचना ही पड़ेगा, ज्ञानीका काम तो अक्षरब्रह्मसे भी चल जाता है.

४६. पथ्वी धर्मी है, गुरुत्वाकर्षण उसका धर्म है. अग्नि धर्मी है, उष्णता उसका धर्म है. पुष्प धर्मी है, सुगंध उसका धर्म है. वैसे ही कर्षण धर्मी है, सत् चित् आनंद उसके धर्म हैं. धर्म अर्थात् जिसके कारण धर्मीको पहचाना जाय.

४७. नींद मुक्तिका एक प्रकार है. उससे अधिक मुक्ति मृत्युमें है. उससे अधिक मुक्ति प्रलयमें है. उससे अधिक मुक्ति अक्षरब्रह्ममें लीन होनेमें है और मुक्तिकी पराकाष्ठा कर्षणभक्तिमें है.

४८. श्रीकर्षण जब बाह्यरमण करनेकी इच्छा करते हैं तब जगत प्रकट होता है. जब आत्मरमणकी इच्छा करते हैं तब जगतका लय होता है और अच्छे बुरे सब जीवात्मा मुक्त हो जाते हैं.

४९. जो उष्णता सूर्यमें है वह उसकी धूपमें नहीं है. मात्रा घट जाती है. यह होते हुये भी धूपमेंसे सोलार बैटरी द्वारा कितनी अधिक गरमी पैदाकी जा सकती है! उसी प्रकार बर्हिगोलकांचके (मैगनिफाईंग ग्लास) द्वारा रईको जलाया जा सकता है. तो धूपमें गरमी तो थी ही परन्तु पूर्ण प्रकट नहीं थी. उसी प्रकार अक्षरब्रह्ममेंसे पुरुषोत्तम प्रकट किये जा सकते हैं.

५०. प्रपंच अक्षरब्रह्मात्मक है, सत् चित् और आनन्दात्मक है लेकिन उसकी इमेज उल्टी है. (शीशेमें जैसे उल्टा दिखाई देता

है वैसे), अर्थात् कि आनन्दतत्व अक्षरब्रह्ममें सबसे अधिक प्रकट है जबकि प्रपंचमें सबसे अधिक गुप्त है।

५१. प्रपंचका सार निकालो तो मात्र सत् अंश ही दिखाई देगा. जहां चित् अंश ही अप्रकट है वहां आनन्द अंश प्रकट होनेकी संभावना बहुत कम है।

५२. प्रारम्भमें चंद्रमापर रौकेट उतरता था तब वह इतनी तेजीसे उतरता था कि स्वयं ही नष्ट हो जाता था. लेकिन बादमें रौकेटको गुरुत्वाकर्षणके विरुद्ध ऊपरकी ओर खींचकर उसकी सोफ्ट लैंडिंग कराई गई. परिणामस्वरूप शुरुआतमें जो रौकेट कुछ भी सूचना दिये बगैर खत्म हो जाता था उसके बजाय बादमें रौकेट स्वयं खत्म हुये बगैर चन्द्रकी सूचनाएं देने लगा.

उसी प्रकार ज्ञानी लोग सोहम् करते करते अक्षरब्रह्ममें इतनी तेजीसे दौड़ जाते हैं कि स्वयं उसमें लीन हो जाते हैं, वहांका कोई समाचार नहीं दे सकते. लेकिन भक्त मैं ब्रह्मका हूं यह रटना लगाते हुये अक्षरब्रह्ममें सोफ्ट लैंडिंग करता है. परिणामस्वरूप अपना व्यक्तित्व अलग बनाये रखता है और पुरुषोत्तमके समाचार भी प्राप्त कर सकता है.

समुद्रमें बिंदु पड़ता है तो समुद्र उसको अलग थोड़े ही रखता है. लेकिन भक्ति रूपी पोलीथिनकी थैलीमें पैक करके जीवरूपी जल बिंदु ब्रह्मरूपी समुद्रमें कूद जाय तो वह एक नहीं होंगे.

५३. सुख दुःख दोनोंको पचा सके वह आनन्दरूप कहलाता है. दुःख हो तो भी उतना ही आनन्द, सुख हो तो भी उतना ही आनन्द, तब ही जीव सच्चिदानंद कहलाता है.

५४. पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है इससे बड़ा झूठ कुछ हो नहीं सकता. यह मार्ग केवल सुयोग्य अधिकारियोंकेलिये है, विश्वके लिये नहीं.

५५. कार्य-कारणके संबंधकी व्याख्या करनेकेलिये कुल मिलाकर चार वाद हैं:

(क) विकृतपरिणामवाद: उदाहरणार्थ जैसे दूधमेंसे दही बनता है. (सांख्य मतके अनुसार प्रकृति जगत रूपमें विकृत हुई है).

(ख) आरम्भवाद: एक एक हिस्सेको जोड़कर कोई मशीन बनानेमें आये (न्याय मतके अनुसार यह जगत परमाणुओंको जोड़नेसे बना है).

(ग) विवर्तवाद: रस्सीमें सर्पका भास होना. (श्रीशंकराचार्यजीके मतानुसार यह जगत ब्रह्मके ऊपर माया द्वारा उत्पन्न हुआ सा लगता है, ब्रह्ममें स्थित है ऐसा लगता है और मायामें लीन होनेवाला है).

(घ) अविकृतपरिणामवाद: उदाहरणार्थ जिस प्रकार सोनेमेंसे आभूषणका बनना. (श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार ब्रह्ममेंसे जगत उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही स्थित है और ब्रह्ममें ही लीन होने वाला है. जगत उत्पन्न होनेसे ब्रह्ममें कोई विकृति नहीं आती).

५६. श्रुति कहती है कि निष्प्रपंच ब्रह्ममेंसे जगत (सप्रपंच ब्रह्म) उत्पन्न होता है और जगत ब्रह्ममें ही स्थित रहता है. (यहाँ दूधमेंसे दही बननेका उदाहरण गलत पड़ता है, कारण दही जमनेके बाद वह दूधमें स्थित नहीं रह सकता). श्रुति आगे कहती है कि जब जगत अपना स्वरूप खोता है तब ब्रह्ममें ही लीन होता है. यहाँ रस्सीपर सर्पका उदाहरण गलत पड़ता है. कारण रस्सीपर सर्पका भास होता है और ज्ञान होनेके बाद सर्प रज्जुमें लीन नहीं हो जाता. कार्य-कारणका अद्वैत, जिसके अनुसार उत्पत्ति-स्थिति-लय क्रियाओंका कारणसे भिन्न कार्यमें नहीं लेकिन कारणाभिन्न कार्यमें वर्णन होनेके कारण आरम्भवादको भी श्रुति झुठला देती है.



५७. जगत और जगदीशकेलिये जिनके मनमें भेद नहीं है उनके लिये जगतमें जगदीशका प्रागट्य आसान हो जाता है. कारण भेद ही तो बाधक होता है और अभेदता ही साधक हो जाती है. कारण जगदीश जगतके भीतर भी है और बाहर भी.

५८. कर्मांग देव, ज्ञानांग देव और उपासनांग देव अलग अलग होते हैं. अलग अलग शास्त्रोंमें अलग अलग देवोंको महान बताया गया है. लेकिन शास्त्रोंमें उनकी महानता पढ़कर अपनेको शंका नहीं करनी चाहिये. कारण कि जिस देवताका जहाँ प्राधान्य होता है वहाँ ही उसका प्राधान्य माननेमें आता है.

ज्ञानकांडमें जो देव ज्ञेयका प्रतीक देव है उसकी ही साधना फलदायी है. कर्मकांडमें कर्मके फलको देनेवाले देवका ही प्राधान्य है. शैव आराधनामें विष्णु गौण है और विष्णु आराधनामें शिव गौण है.

विवाह कार्यमें गणपति मुख्य और उनके पिता शिव गौण गिने जाते हैं.

५९. कर्ममें कर्मकेलिये देव हैं, देवकेलिये कर्म नहीं है. ज्ञानमार्गमें ज्ञेयके प्रतीक देवका ज्ञान प्राप्त होनेपर उससे चिपकनेकी जरूरत नहीं है. लेकिन भक्तिमें देवकेलिये भक्ति है, भक्तिकेलिये देव नहीं.

६०. कर्मकांडी सुपारीमें गणपतिका आवाहन करते हैं. विसर्जनके बाद उस सुपारीका कोई महत्व नहीं है. लेकिन जहाँ गणपतिजीकी मूर्तिकी स्थापना है वहाँ भक्तिकी महत्ता है. वहाँ नित्य आवाहन, नित्य विसर्जनकी आवश्यकता नहीं है.

६१. कर्मियोंको कर्मके फलके साथ मतलब है, कर्मके देवताके साथ नहीं. उपासना मुख्य हो वहाँ उपास्य गौण हो जाता है और उपास्य मुख्य हो वहाँ उपासना गौण हो जाती है.

६२. भक्तिमें हम दिव्य सामर्थ्यको नहीं पुकारते, लेकिन समर्थ देवको पुकारते हैं. जिसे बुलायेंगे वही तो आयेगा. प्रभुकी सामर्थ्यसे तुम्हारी कामनाकी पूर्ति हो जाती हो तो समर्थ की गरज नहीं रह जाती क्या? जो ऐसा लगता हो तो पक्का समझो कि तुम्हारेमें भक्ति कदाचित् हो; लेकिन भक्तिमार्गीयता नहीं. महाभारतमें दुर्योधनको सामर्थ्यकी जरूरत थी. उसको प्रभुने सेना दी. लेकिन अर्जुनको समर्थकी जरूरत थी इस कारण प्रभुने उसे स्वयं अपना साथ दिया.

६३. बहुतसे राजा अपने प्रतीक रूप तलवारको भेजते थे और कन्या उसके साथ ब्याह जाती थी, जबकि कुछ कन्याओंसे ब्याह रचाने राजाको खुद उसे जबरदस्ती उठा ले जाना पड़ता था. मुसलमानोंको प्रभुके पैगम्बरसे संतोष होता था इसलिये प्रभुने उनके पास पैगम्बर भेजा लेकिन हमको तो प्रभुकी गरज है इसलिये प्रभुको खुद आना पड़ा. जैसी जिसकी गरज.

६४. हमको अनन्याश्रयकी अतिरेकताके लिये टोकनेमें आता है; लेकिन प्रायः हरेकको एकका ही आसरा है. कर्मियोंके लिये कर्मांग देव कितने सारे हैं, लेकिन उन उन कर्मोंमें उन उन देवताओंका पूजन होता है.

६५. गोविन्दस्वामीको श्रीयमुनाजीपर अतिभक्ति होनेसे उनके जलमें और श्रीयमुनाजीमें अभेदबोध सिद्ध हो गया. परिणामस्वरूप वे कभी भी यमुनाजीमें स्नान नहीं करते थे.

६६. उपास्य या सेव्य मूर्तिमें आधिभौतिकता स्वतःसिद्ध है, आध्यात्मिकता भक्तकी अभेदबुद्धि से आती है. आधिदैविकता अति स्नेहभावसे आती है.

६७. भक्तके अतिशय स्नेहके कारण अन्य भक्तमें अथवा भगवद्स्वरूपमें प्रभुका आविर्भाव दीखता है. परिणामस्वरूप उनके हृदयमें भगवद्प्रागट्य होता है. दर्शन देनेवाले भक्तके

हृदयमें यह प्रागट्य कदाचित् न भी अनुभव हो. यहाँ मात्र भाव या कल्पनाकी बात नहीं है लेकिन वास्तवमें उसके भावका पोषण करनेकेलिये प्रभु उसमें प्रकट होते हैं.

६८. लैलाकी गलीके कुत्तेको भी देखकर मजनूको अति रोमांच होता था. उसी प्रकार कच्चे भगवद्भक्तको देखकर भी स्नेही पक्के भक्तमें प्रभु मिले उतना ही रोमांच होता है.

६९. तुम किसीको दोस्त समझो और वह तुमको नहीं समझे तो वह तुम्हारी मात्र कल्पना है. लेकिन तुम्हारी भावनाका प्रतिभाव जो उसमें पड़े और वह भी तुमको दोस्त माने तो यह कल्पना नहीं रह जाती. (गलीके मजनुओंको लड़कीसे छेड़छाड़ करनेपर उसके जूते ही मिलते हैं, कारण उनके भावका प्रतिभाव उन लड़कियोंमें नहीं पड़ता).

७०. एक चित्रकार अथवा शिल्पी चित्रपट अथवा शिलाको देखता है तब उसमें वह कल्पना नहीं करता लेकिन भावसे देखता है. परिणामस्वरूप उसके भावके अनुरूप आकार धारण होता है: चित्रपटमें चित्रका और शिलामें शिल्पका. इसी प्रकार स्वरूप जब भावानुसरण करते हैं तब उनमें कल्पना नहीं रहती. गीतामें कहा है कि **जो मुझे जिस भावसे भजता है उसे उसी रीतिसे भजता हूँ.** प्रभुको भयंकर रूपसे देखना चाहते हो तो प्रभु भयंकर रूपसे दर्शन देंगे; वात्सल्यसे देखे उसकेलिये प्रभु बालक बन जाते हैं. जो कांतरूपसे देखे उसकेलिये प्रभु कांत बन जाते हैं.

७१. सामान्यतया भाव प्रगट होना ये हृदयकी सामर्थ्यपर अवलम्बित है, लेकिन भावानुसरण करानेकी सामर्थ्य हृदयमें नहीं परन्तु प्रभुमें है. एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके भावका अनुसरण करता है, अरे जानवरमें भी प्रेमका असर हो जाता

है तो प्रभु क्यों भावानुसरण न करें? मर्यादा हमारी हो सकती है, प्रभुकी नहीं.

७२. अलग अलग व्यक्तिके भावका अनुसरण करनेकी सामर्थ्य संयुक्त परिवारके बड़े लोगोंमें अधिक होती है. कई बार यह सामर्थ्य कुछ नेताओंमें भी होती है. ऐसी सामर्थ्य सामान्य मानवमें होती है तो क्या प्रभुमें नहीं हो सकती?

७३. कोई मार्ग, कोई देव, कोई साधना, गलत या गौण नहीं होते. सिर्फ तुमको जो फल अभीष्ट है, वह मार्ग, वह देव, तुम्हारेलिये मुख्य; बाकी सब तुम्हारेलिये गौण बन जायेंगे. **सर्व मार्गोंका फल एक ही है** यह विधान भ्रामक है, सफेद झूठ है.

७४. फलका भेद हृदयमें होता है, वस्तुमें नहीं. अपने हृदयको जो अभीष्ट लगे उसके लिये दूसरेका समर्थन अथवा परवाहकी जरूरत नहीं है. **कवि बोधा प्रीत करी है गोपाल सुं टेर कहीं सुनो ऊंचे गले. हमें नीकी लगी सो करी हमने तुम्हें नीकी लगे न लगे तो भले. दूसरा उसे मान्य करे तो भी क्या और न भी करे तो भी क्या?**

७५. कर्मांग देवता इष्ट हो सकते हैं, अभीष्ट नहीं लेकिन भक्तिमें प्रभु अभीष्ट हैं. उदाहरणार्थ जहां विघ्नहरण इष्ट हों वहां गणपति अभीष्ट नहीं रह जाते.

७६. सच्चा भक्त दर्शनकी अपेक्षा नहीं रखता, यदि रखता है तो उसकी भक्तिमें कच्चापन है. दर्शनके बाद उसे प्रेमकामना हो तो फिर क्या शेर मारा?

७७. उफनती अनन्य भक्ति कैसी होती है ?

“बैठके दर पे तेरे अब किसके दर पे जायेंगे.

तेरे जब हम बन गये क्या गैर के कहलायेंगे ?

७८. श्रीगोकुलनाथजीके भक्तोंने कहा, आप श्री पुरुषोत्तम हो. आपश्रीने उत्तर दिया, **मैं तो पुरुषोत्तम नहीं हूं, तुम्हारा**

भाव पुरुषोत्तम है. लेकिन भक्तोंका भाव ऐसा प्रबल था कि उन्होंने अपना पंथ ही अलग बना लिया.

७९. गोपियोंके भावके कारण प्रभु कांत बने? नहीं, श्रीकृष्णने वह भाव जगाया, अतः वे कांत बने. उसी प्रकार श्रीकृष्णने कंसमें भयका भाव जगाया इसलिये स्वयं भयंकर बने और श्रीयशोदामें मांका वात्सल्यभाव जगाया और स्वयं बालक बने.

८०. गीताजीमें विरुद्धधर्माश्रयका गुण निम्न वाक्योंसे स्पष्ट होता है:

क) भक्त मुझे जैसे भजता है उसी भावसे मैं उसको भजता हूँ.

ख) सब मुझे अनुसरते हैं, मैं किसीको नहीं अनुसरता.

८१. हम प्रभुको मान नहीं दे रहे लेकिन प्रभु जितना मान अपनेसे लेना चाहते हैं उतना ही लेते हैं. जैसे अपने आपको जितना सजाओ उतना ही दर्पणमें दिखेगा. उसी प्रकार अपना हृदय भी दर्पण जैसा है. श्रंगार तो प्रभु धारण करते हैं. हम तो सिर्फ उसको प्रतिबिंबित करते हैं.

८२. जिस प्रकारसे गीताजीमें प्रभुने कहा है कि मैंने तो सैनिकोंको मार दिया है. अब तू निमित्त मात्र बन. उसी प्रकार सब कार्य करनेवाले, भाव जगानेवाले प्रभु ही हैं. जीव तो निमित्त मात्र है.

८३. भंवरेसे किसीने पूछा: तू इन कांटोवाली डालियोंपर क्यों घूमता है? उसने कहा : यहीं तो गुलाब खिलनेवाला है. पतझड़से तो वह डरे जिसे नवीन वसंत आगमनका विश्वास न हो. जिसे विश्वास है कि देरसबेर वसंत ऋतु आनेवाली ही है फिर उसे किसका भय? मेंढक, कछुए इत्यादि वर्षा ऋतुके बाद मिट्टीमें घुसकर समाधि अवस्था धारण

करते हैं और दूसरी वर्षाऋतु तलक समय खींच लेते हैं. एक वर्ष बारिश नहीं आये तो घबराते नहीं हैं. कुछ नहीं, दो चार वर्ष बाद भी बरसात तो जरूर आयेगी. इसी प्रकार साधक साधना पथपर घबराये बिना धीरजसे चले. फलके विलम्बसे घबराये नहीं.

८४. एक भक्त मंदिरमें सोहनी करके भक्तोंके चरणोंकी धूल साथ ले जाता था और रोगोंके उपचारकेलिये उसको दवाईके रूपमें प्रयोगमें लाता था. जो धूल आजके युगमें गंदी तथा रोगोंके जीवाणुवाली मानी जाती है वही उस भक्तकेलिये दवाईके समान थी.

८५. पापकी निवृत्तिकेलिये गंगास्नान नहीं, लेकिन गंगाजीका भक्त गंगास्नानकेलिये पाप को छोड़ेगा, वह गंगाजीमें पाप नहीं छोड़ेगा.

८६. बहुतसे लोग तापवादी होते हैं. हमेशा तापमें सुलगते रहना ही उन्हें इष्ट लगता है. आनन्दवादी तापके बाद आनन्दका मजा लेनेवाले होते हैं.

८७. वेदमें क्या है वह जिस रीतिसे स्मृति कहती है वैसे समझना चाहिये, अर्थात् श्रुतिके साथ स्मृतिकी संवादिता निभानी चाहिये. उसी प्रकार स्मृतिके साथ सदाचार (परंपरा, ट्रेडिशन) संवादित होना चाहिये और सदाचार आत्माकी आवाजके साथ संवादित होना चाहिये. कोई कार्य करनेकेलिये प्रमुखता किसे देनी? तो जिसमें अधिकसे अधिक संवादिता हो उसे.

८८. प्रपंच सत्व, रज, तम; त्रिगुणात्मक है. यह आधिभौतिक पहलू है. कर्म (कोई वस्तु उत्पन्न होनेमें कर्म हेतुभूत होता है), स्वभाव (प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावमें स्थित होती है), काल (अंतमें सब कालवश होकर नष्ट होता है) यह तीनों

आध्यात्मिक स्वरूप हैं. उनके नियामक देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों आधिदैविक स्वरूप हैं.

८९. (१) वाचिक तप (स्वाध्याय आदि) ब्रह्मचारीको करना होता है. (२) कायिक तप (यज्ञयाग आदि) गृहस्थको करना होता है. (३) मानसिक तप वानप्रस्थको करना होता है. यह तीनों बातें सेवापर भी घटायी जा सकती हैं:

(१) प्रपत्ति (२) तनुवित्तसे सेवात्मिका भक्ति (३) मानसीसेवा क्रमानुसार पुष्टिमार्गमें बाल्यावस्था, युवावस्था और प्रौढावस्था है. प्रपत्तिमार्ग यह बालपनेका भाव है. केवल स्वाध्यायका आनन्द बालक ही ले सकता है, बड़ा नहीं. (बालक जितने रससे कहानियां पढ़ता है उतने रससे बड़ा नहीं पढ़ सकता).

९०. जब प्रभु अपनी आत्मारूप लगने लगे तब मांगनेमें भी कोई संकोच नहीं रहता, जिस प्रकार हम अपने दोस्तसे हक समझ कर लेते हैं.

९१. बालक मानता है कि मां मेरी है - कारण उसका हरेक स्वार्थ पूरा होता है, तो बालभावमें यह भाव भूषणरूप लगता है. उसी प्रकार यह सब मेरा है यह बालभाव है. मैं सबका हूँ यह प्रौढभाव है. दोनों भाव अपनी अपनी अवस्थामें सच्चे हैं.

९२. भक्तिकी पूर्वकक्षामें मैं तेरा यह भाव होता है. फल कक्षामें तू मेरा यह भाव प्रबल बनता है. जब मैं तेरा ऐसा कहते हैं तब प्रभुका माहात्म्यज्ञान प्रबल जानना. शंकराचार्यजी जब कहते हैं कि समुद्रकी तरंग होती हैं, तरंगका समुद्र नहीं होता वैसे ही मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं है इसमें माहात्म्यज्ञान खूब छलक रहा है. लेकिन जब प्रभुके साथ पूर्ण ममता बंध जाती है तब तू मेरा यह भाव अपने आप आ जाता है. इसमें जीव अहंताको भूल जाता है. तू मेरा इसमें अहं नहीं बोल रहा, मात्र प्रभुकेलिये भक्तकी ममता बोल रही है.

९३. जिसे भजनीय स्वरूपका तथा अपने स्वरूपका अज्ञान है उसके लिये श्रीमहाप्रभुजीने पूजा + उत्सवमें स्थित रहनेकेलिये कहा है. पूजा = अपनेसे महानकी होती है. (अर्थात् माहात्म्यज्ञानपूर्वक दैन्य). उत्सव = जिसके साथ मेरेपनका भाव है उसका उत्सव मनाया जाय (स्नेह). उस ही प्रकार जो **मर्यादा** स्थित पुष्टिभक्त हैं उन्हें गंगा किनारे बसना चाहिये (माहात्म्यज्ञान + दैन्य) और श्रीमद्भागवतमें (स्नेहके लिये) तत्पर रहना चाहिये.

९४. प्रभुताका भाव जब तलक हो तब तक ही पूजा है और ऐसे माहात्म्यको जाननेके बाद ही सेवा प्रारम्भ होती है, सेवामें माहात्म्यज्ञानकी आवश्यकता नहीं है.

९५. गोस्वामी बालकोंकी वैष्णवोंके घर पधरावनी होती है तब माला वगैरह धरानेमें आती है, वह पूजा कहलाती है; लेकिन बालकोंके घरमें उनकी पत्नी द्वारा अथवा नौकर द्वारा सेवा होती है, पूजा नहीं. मतलब कि सेवा तो उसकी होती है कि जिसके साथ अपन घरमें रहते हैं. बाकी पूजामार्गीय आवाहन- विसर्जन- पधरावनीमें तो पूजाका ही भाव होता है.

९६. बहुत लोग कहते हैं कि कर्म तो भगवानको भी भोगना पड़ता है. इस तरह वह लोग नियम बनानेवालेके ऊपर ही नियम थोप देते हैं. वह लोग भूल जाते हैं कि जिसमें नियम बनानेकी सामर्थ्य है तो तोड़नेकी भी है.

९७. भक्तको गंगा देवीके दर्शन प्राप्त करने हों तो तीर्थरूपा गंगा प्रति भाव द्वारा प्राप्त कर लेते हैं. लेकिन देवीकेलिये कोई मर्यादा नहीं है. जिस प्रकार अफसरको मिलनेकेलिये चपरासीकी हां जरूरी है लेकिन अफसरको स्वयं किसीसे मिलने बाहर आनेकेलिये चपरासीकी मंजूरीकी जरूरत नहीं है.



९८. प्रश्न: भगवदधर्मका अंगरूप अर्थात्? उत्तर: अपने यहां पूजा तो है ही, लेकिन सेवाके अंगतया. श्रीमहाप्रभुजीने कहा है कि जब तलक स्नेहभाव न जगे तब तलक पूजा ही करनी. सेवा करने लगे उसके बाद नवधा भक्तिका स्वरूप बदलता है. यह नवधा भक्ति जो भक्त धर्म हैं, वह स्नेहके अंगरूप बन जायेगी.

९९. घरमें हो उसकी सेवा होती है. (गहसुश्रुषणं मह्यं दासवद्दयदमायया) घरमें जिस प्रकार मालिककी सेवा होती है वैसे सेवा करनी चाहिये. इसलिये पब्लिक मंदिरोंमें अथवा ट्रस्ट मंदिरोंमें की गई सेवा घरमें न होनेके कारण मूलमें तो सेवा होती ही नहीं और अगर है तो वह व्यामोहिका मायासे भ्रमित पुष्टिजीवों द्वारा किया गया सेवाका मिथ्या आडम्बर है.

१००. आवाहन-विसर्जनमें पूजाका भाव है. पूजा भले ही अधिक स्नेहसे होती हो और सेवा भले थोड़े स्नेहसे होती हो, लेकिन सेवा तो सेवा है और पूजा तो पूजा. घंटा बजाकर जगाना, अनौसर करना यह सब पूजा है. लेकिन सेवामें पूजा मिल जाय तो वह सेवा हो जायगी. संसार भी सेवामें मिलनेके बाद सेवा हो जाता है.

गोस्वामी बालक जब परदेस पधारते हैं तो पूजाके श्रीठाकुरजी पधारते हैं. सेवाके श्रीठाकुरजीको तो श्रम पड़ता है. इन पूजाके श्रीठाकुरजीको सेवामें श्रीठाकुरजीकी गोदमें पधारानेसे वह सेवाके बन जाते हैं. सूचना:- चार जयंतीके बीचमें पंचामतस्नान, तंत्र शास्त्रोक्तविधिसे पूजाके श्रीठाकुरजीके होते हैं.

१०१. पूतनालीला भक्तके स्वरूपको समझानेकेलिये नहीं लेकिन भजनीयके स्वरूपको समझानेकेलिये है. शास्त्रोंमें सावधानी रखनी पड़ती है कि कौनसी लीला सेवककेलिये है

और कौनसी लीला सेव्य स्वरूपके लिये है. आंतरं तु परम् फलम् यह श्रीमहाप्रभुजीका वाक्य है, लेकिन किसकेलिये? जिसे व्यसन दशा सिद्ध हो गई है उनके अनुभवगोचर भगवत्स्वरूपकी समझकेलिये; अंकुरावस्था, प्रेमावस्था या आसक्ति अवस्थावाले भक्तको कैसा भाव रखना उसे समझनेकेलिये नहीं.

१०२. तुम मार्गका अनुसरण कर रहे हो, ब्रजभक्तोंके पद चिन्होंका नहीं. जिस प्रकार ब्रजभक्त चले वैसे अपन नहीं चल सकते; जिस मार्गपर चले उस मार्गपर चल सकते हैं.

१०३. पुष्टिमार्ग सम्पूर्ण रीतिसे पुष्टिसम्प्रदाय नहीं हो सकता. पुष्टि (कपा) को पुष्टिमार्गकी गरज नहीं है. सम्प्रदायके नियम मार्गको लागू नहीं पड़ते. मार्गके नियम पुष्टिको लागू नहीं पड़ते. पुष्टिमें कोई नियम होता नहीं है इसलिये प्रभु स्वतन्त्र हैं.

पुष्टिसम्प्रदाय - पुष्टिमार्ग - पुष्टिभक्ति - पुष्टि - प्रभु.

१०४. बर्हिमुखता दूर करनेका उपाय .... वगैरहके बारेमें सम्प्रदायकी कुछ मान्यताएँ और नियम हैं. मार्ग तो दूरकी बात है, ब्रह्मसम्बन्ध लेना वगैरह सम्प्रदाय है मार्गको ब्रह्मसम्बन्धकी कोई गरज नहीं है.

१०५. मानलो भविष्यमें कोई गोस्वामी बालक ही न रहे तो क्या पुष्टिमार्ग छोड़ दोगे? श्रीमहाप्रभुजी तो हैं न? जब तलक सम्प्रदाय जीवित है तबतलक परम्परा मौजूद है. परम्परा नहीं रहे तब भी मार्ग तो रहेगा. मार्ग नहीं रहे तो भी पुष्टि तो रहेगी न? अगर मार्ग नहीं रहेगा तो प्रभु पुष्टि नहीं करेंगे?

१०६. पुष्टि, पुष्टिमार्ग, पुष्टिभक्ति और पुष्टिसम्प्रदायमें सूक्ष्म अंतर है. काल, कर्म, और स्वभावके नियमोंका प्रभु द्वारा किया गया अपवाद वह पुष्टि. पुष्टिके कारण प्रभु पापीको भी

स्वर्ग या असुरको भी मुक्ति इत्यादि देते हैं. पुष्टिमार्ग अर्थात् प्रभुकी कपासे प्रभुको प्राप्त करनेका मार्ग. गोपिकाएँ काम भाव द्वारा प्रभुको प्राप्त हुई यह पुष्टिमार्ग. पुष्टि (अनुग्रह) द्वारा जब हृदयमें प्रभुके प्रति भक्ति जागे तब उसे पुष्टिभक्ति कहा जाता है. पुष्टिसम्प्रदाय श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिमार्गके आधारपर प्रवर्तित किया है. इसलिये प्रभुके प्रति कामभाव पुष्टिसम्प्रदायमें उपादेय नहीं है. अलबत्ता पुष्टिमूलकभक्ति अथवा प्रपत्ति पुष्टिसम्प्रदायमें उपादेय है.

१०७. ब्रह्म अकेला था, आत्म रमण करता था. इस अवस्थामें उसे किसी सेवा-सेवककी जरूरत नहीं थी. श्रुति कहती है कि दूसरी आत्मा प्रकट हो ऐसी उसे इच्छा हुई. प्रयोजन? अकेले वह रमण नहीं कर सकता था. यह रमण ही सेवा है. आत्मरमणमेंसे उसने सेव्य-सेवक, कर्ता-कृति, ज्ञानी-ज्ञेयके रूपमें रमण करना प्रारम्भ किया. सेव्य-सेवकका रूप प्रभुने धारण किया. प्रयोजन? सेवा. ज्ञानी-ज्ञेयके दो रूप धारण करनेका प्रयोजन? ज्ञान. कर्ता-कर्मके दो रूप धारण करनेका प्रयोजन? कर्म. रमण किया तो कर्म, ज्ञान और भक्ति रूप रमण. रमणकी बहुत महत्ता है और वह समझे बिना सेव्य सेवकका स्वरूप समझमें नहीं आयेगा.

१०८. सेवामें तीन प्रकारके पद गाये जाते हैं: (१) जगानेसे पहले श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी और श्रीयमुनाजीकी स्तुति गाई जाती है. इन पदोंको गानेका कारण सेवकपनेके भावका उद्बोधन करना है. उनके बिना भावका उद्बोधन नहीं होगा. (२) जगानेके बाद सेवाके कीर्तन गाये जाते हैं. यह सेव्यके उद्बोधनके लिये हैं. सेवामें रमण होना चाहिये. रमणका भाव जागेगा बादमें सेव्यका उद्बोधन होगा. सेवा सुंदर रीतिसे होनी चाहिये जिससे जागनेमें प्रभुको रुचि आवे, भोग आरोगनेमें उन्हें

रुचि आवे और शंगार धरानेमें उन्हें रुचि आवे. जिस प्रकार लड़ाईके समय लड़नेवालोंमें शूरपना आवे वैसे गीत गाये जाते हैं, उसी प्रकार कीर्तनसे सेव्यमें भावका उद्दीपन होता है. अपनेमें सेवाका उत्साह श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी और श्रीयमुनाजीकी स्तुतिसे आता है. जिस प्रकार खानेकेलिये भूख लगे इसलिये पहले क्षुधावर्धक रस पीते हैं उसी प्रकार भाव उद्दीप्त हो इसलिये जगानेके बाद कीर्तन (चटनी की तरह) गाये जाते हैं. बादमें प्रभुमें सेवा लेनेका भाव उद्दीप्त हो जाये तो हम सेवा ठीक करें या न करें, सेवा ठीक ही होगी. (३) सेवा करनेके बाद अहंकारकी डकार न आवे इसके लिये दीनताके पद गाये जाते हैं. खानेके बाद बर्तन तो मांजने पड़ते ही हैं न! इसलिये मैंने सेवा करी है यह अहंकार नहीं रहना चाहिये. सेवा प्रभुने ली है कपाकरके श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजीकी कानिसे, इसलिये दीनता आश्रयके पदोंको भी गाना चाहिये.

१०९. सेवाका स्वरूप	सेवाका गुण
क. सदाकार्या	ऐश्वर्य
ख. मानसी परम फल	वीर्य
ग. चेतस्तत्प्रवर्णं	श्री
घ. तनुवित्तजा	यश
ङ संसार दुःखनिवृत्ति	वैराग्य
च. ब्रह्मबोधन	ज्ञान

ऐसी षड्गुणवती सेवा है.

११०. (क) सदाकार्या : जो वस्तु सदाकी जाती है वह हमेशा प्रमुख बन जाती है. सेवा ऐश्वर्य भावयुक्त करनी चाहिये जिससे दूसरी कोई वस्तु उसकी तुलनामें प्रमुख न बन जाये.

सदा अर्थात् सोते, जागते, खाते सब समय सेवा करनी. हरेक कार्य सेवाके आधीन होना चाहिये तो सेवामें ऐश्वर्य आये.

(ख) मानसी : किसी एकको किसी दूसरेके साथ महाद्वेष हो और उस कारण उसे मारनेकी हिम्मत हो तो वह सचमुच मारेगा. लेकिन हिम्मत बगैरका मनुष्य मनमें मारेगा, मनमें गाली देगा. लौकिककार्य जब मानसीमें हो जाते हैं तब उनका वीर्य खत्म हो जाता है. लेकिन यहां ऐसा नहीं है. प्रभुकी मानसीसेवा जब प्रकट होती है तो वह सेवा सबसे अधिक अंगीकार करते हैं. लौकिकमें बाहरका जगत अलग है और भीतरका अलग. लेकिन प्रभुका वीर्य तो भीतर बाहर दोनों जगह ही मौजूद है. मानसी होती है तब सेवामें वीर्य प्रकट होता है. बाहरकी सेवा जिस सामर्थ्यसे स्वीकार करते हैं उतनी ही सामर्थ्यसे भीतरकी सेवा भी स्वीकारते हैं. इस कारण मानसीसेवा स्वामीको सेवकके आधीन बनाने वाली होनेसे वीर्यवती है.

(ग) चेतस्तत्प्रवणं : यह श्री गुण बताता है. चित्त किसमें प्रवण हो? जहां मोहकता हो, आकर्षकता हो. जब सेवामें चित्त प्रवण हो गया तब सेवामें श्री गुण प्रकट होता है.

(घ) तनुवित्तजा : यशका आधान करती है. जो तनुवित्तजा नहीं करते वे सेवाके यशका खंडन करते हैं. सेवा अर्थात्? सेव्यके समक्ष दीन होना और आधीन होना (तन द्वारा), और उसके सुखका विचार (वित्तजा). तनुजा किसकी करते हैं? जिसके सामने दीन होते हैं जिसके आधीन होते हैं. वित्तजा किसकी करते हैं? जिसके सुखका विचार हो. जब यह गुण प्रकट होते हैं तब सेवामें यश प्रकट होता है.

(ङ) संसार दुःखनिवृत्ति : यह वैराग्य गुण बताता है. जब तुम सांसारिक दुःखोंको दूर करनेकेलिये सेवा करते हो तब

तुम्हारा अनुराग संसारमें है. सेवामें अनुराग होनेपर संसारमें वैराग्य आयेगा.

(च) ब्रह्मबोधन : हम जानते हैं झारीजी चांदीकी है, लेकिन हम उसमें श्रीयमुनाजीका भाव स्थापित करते हैं. सिंहासनमें श्रीयशोदाजीकी गोदीकी भावना करते हैं. खिलौना कुछ भी नहीं है तब भी हम उसमें ब्रह्मबोध स्थापित करते हैं. हरेक वस्तुमें जड़ताकी भावना दूर करके सचेतनताकी भावना करते हैं. इस प्रकार सबमें भाव स्थापित करके उसमें चेतनता और आनन्दत्व लाते हैं. हरेक वस्तुमें भावात्मकताका अनुसंधान बना रहता है. हम **झारी लाओ** ऐसे नहीं कहते लेकिन **पधराओ** ऐसा कहते हैं. यह ब्रह्मात्मकताका ज्ञान है. झाड़ूको **सोहनी** बोलेंगे कारण कि वह लक्ष्मीका स्वरूप है, जो कि सेव्य स्थलको साफ कर रही है. सोहनीको हम पैर भी नहीं लगाते हैं. ऐसी षडगुणवती सेवा षडगुणवान प्रभुके लायक है.

१११. कीर्तन गानेसे पहले आज्ञा ली जाती है. कीर्तनीयांजीकी गादी होती है. शंगारीकी भी गादी होती है.

११२. संसार सुखकी प्रवृद्धिकेलिये सेवा नहीं करनी. कोई कहता है कि सेवामें धरे हुए फलादि खानेसे आरोग्य बढ़ता है, दण्डवत करनेसे कसरत होती है. इस प्रकार सेवा स्थलको बॉडी बिल्डिंग या बॉडी स्लिमिंग सेन्टर नहीं मानना चाहिये.

११३. ब्रह्मबोधन विषयका बाध नहीं है. विषय तो विषय ही रहेगा, लेकिन उसमें ब्रह्मात्मकताका बोध होगा. ब्रह्मता नहीं लानी है लेकिन ब्रह्मबोधन लाना है. सबकी सेवा नहीं करनी, लेकिन सेव्यकी सेवा करनी है ब्रह्मात्मक सामिग्री द्वारा, जैसे गोकुल-मथुरामें यमुना पूजनमें जलकी लोटी यमुनाजीके जलप्रवाहमेंसे ही भरकर श्रीयमुनाजीको भोग धरनेमें आती है. ब्रह्मता और ब्रह्मेतरताका इतरव्यावर्तन **ब्रह्मबोधन** पद द्वारा

होता है. सोना रखो तो गुनाह है लेकिन जेवर रखनेमें गुनहगारी नहीं है. सेवामें दो ब्रह्म होंगे तो कदाचित गड़बड़ होगी. लेकिन सेवामें ब्रह्मात्मकतासे गड़बड़ नहीं होगी. सेवोपयोगी पदार्थको ब्रह्मसे भिन्न समझना या ब्रह्म समझना गलत है. कारण उससे रमणका भाव समाप्त हो जाता है. सेवा सेव्य सेवकके बीचका रमण है, आत्मरमणता नहीं है.

११४. (क) संसार दुःखनिवृत्तिपूर्वक कर्णमें चित्त प्रवणता यह आधिदैविक है. प्रवाहपुष्टिका कार्य है. (ख) ब्रह्मबोधनपूर्वकी चित्त प्रवणता यह आध्यात्मिक है. मर्यादापुष्टिका कार्य है. (ग) मानसी यह आधिदैविक है और पुष्टिपुष्टिका कार्य है.

११५. मोटरगाड़ीमें जैसे बैटरी होती है वैसे ही अपनेमें अंहकार अथवा बुद्धि होती है. केवल बैटरीके आधारपर गाड़ी नहीं चल सकती लेकिन डायनेमो जैसे चित्तको सक्रिय करनेकी भी अपेक्षा है. डायनेमो बैटरीकी मददसे चालू होता है और डायनेमो चालू होनेके बाद उसे बैटरीकी जरूरत नहीं रहती. बुद्धिपूर्वक सेवाकरनेसे चित्त सेवामें प्रवण होता है और बादमें अपने आप चलने लगता है.

११६. पहले बुद्धि या सेवा? जो उत्तम अधिकारी है उसे तो केवल श्रवण ही पर्याप्त है. जो उत्तम अधिकारी नहीं है उसे मनन आदि दूसरी तकलीफ उठानी पड़ेंगी. इसलिये कभी सेवाके नियम बांधे नहीं जा सकते. सिद्धान्त मुक्तावली द्वारा जो सेवाको समझ सकता है तो फिर उसे अणुभाष्य, तत्त्वार्थदीप निबंध पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है. रोग कितना है, खराबी कितनी है उपचार उसके ऊपर निर्भर है. चौरासी, दो सौ बावन वैष्णवोंने श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे सेवा तुरन्त स्वीकार कर ली इसलिये उनको अणुभाष्य पढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी.

और जो नहीं समझे उनके साथ आपको शास्त्रार्थ भी करना पड़ा.

११७. यह तो गुरु शिष्यकी कबड्डी है, दोनोंको एक दूसरेको अच्छी तरहसे पकड़ना पड़ता है. श्रीमहाप्रभुजीके साथ कबड्डी खेलनेवाले भी उनसे अलग हो गये थे तो आजके वैष्णवोंके लिये तो क्या कहना?

११८. प्रवाहमार्गी केवल देहकी देखभाल करता है और आत्माकी उपेक्षा करता है. ज्ञानमार्गी देहकी उपेक्षा करता है और आत्माको सम्भालता है. भक्त आत्मा और देह दोनोंको परमात्माकेलिये सम्भालता है. उसके लिये तो परमात्मा ही सर्वस्व है.

११९. प्रवाही देहोद्धारकी चिंता करता है. ज्ञानी आत्मोद्धारकी चिंता करता है. भक्तकेलिये आत्मा या देह कुछ भी सर्वस्व नहीं है. परमात्मा ही सर्वस्व है. भक्त परमात्माकेलिये देह, आत्मा, संसार जो कुछ भी काम आता है उसे सेवामें लगाता है. ऐसा भक्त किसीका दुश्मन नहीं होता.

१२०. सेवाका सहज आंतरभाव : जिसमें चित्त लगा हुआ रहे वह.

विहित बाह्यभाव : राग, भोग और श्रंगार द्वारा प्रभुके लाड लडाने.

सेव्यप्रति सहज आंतरभाव : प्रिय स्वामीका रूप स्वीकारना और उनके साथ वैसा ही व्यवहार रखना.

विहित बाह्यभाव : शास्त्रवर्णित नवधाभक्ति करनी.

सेवकका अपनेलिए सहज आंतरभाव : मैं और मेरा सब कुछ तेरा है.

विहित बाह्य भाव : भीतरबाहरकी शुद्धिसे सेवामें पहुंचना.



बाह्य नियमोंको इस प्रकार पालना चाहिये कि जिससे आंतरभाव खंडित न हो. आंतरभावका अच्छी तरहसे रक्षण करना चाहिये. बाह्य नियमोंपर अति जोर नहीं देना चाहिये. संतुलन रखना चाहिये.

१२१. संसारी : जिसे अपने प्राप्त संसारसे संतोष है. उसे दूसरी खटपट नहीं है. लोकार्थी : प्राप्त हुएसे असंतुष्ट है एवं उससे अधिक प्राप्त करनेकी आकांक्षा रखता है.

१२२. विनियोग दो प्रकारका (१) साक्षात् (२) पारम्परिक. सेव्यको साक्षात् समर्प सके वह साक्षात् विनियोग. लेकिन सेव्यकी सेवाकेलिये अथवा सेवकादिकेलिये अपेक्षित हो वह पारम्परिक विनियोग.

१२३. द्रव्यकी शुद्धि द्वारा जितनी वस्तु शुद्ध होती है उतनी मिट्टी अथवा जल द्वारा नहीं होती. इसही कारण श्रीठाकुरजीके नामपर दूसरेसे धन लेकर एकत्रित करी गई सामिग्री दसबार पानी द्वारा धोनेके बाद भी अपरसमें नहीं आती, घोर अनाचार ही है.

१२४. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं : ब्रह्मको किसी भी वादकी चौखटमें नहीं बांधा जा सकता लेकिन ब्रह्म चाहे तो वादकी चौखटमें प्रविष्ट हो सकता है. श्रुतियोंके अनेक प्रकारके वचन हैं. कारण? श्रुति किसी एक वादका पक्ष लेना नहीं चाहती लेकिन ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता और सर्वभवन सामर्थ्यका वर्णन करना चाहती है.

१२५. एक एक वाद ब्रह्मके एक एक गुणका प्रतिपादन करता है.

१२६. अक्षरब्रह्मकी प्राप्तिका मार्ग और उसे पा लेना एक ही बात है. मर्यादा मार्ग विधि द्वारा जिसके द्वारा जाननेको मिलता

है वह ही उसे पानेकी विधि है. वेदांत, योग, संन्यास द्वारा जब जीव शुद्ध सत्व हो जाता है तब ही वह पा लेता है.

१२७. ब्रह्मको वेद द्वारा ही जाना जा सकता है. दूसरी किसी अवैदिक रीतिसे नहीं. इस संदर्भमें श्रीमहाप्रभुजी और श्रीशंकराचार्यजी एक मत हैं.

१२८. वेदमें पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा वर्णित है. प्रवाहीयोंकेलिये किसीको मारनेकी विधि भी बताई गई है. पुष्टिमार्गकी विधिकी वर्णन नहीं भी है. मर्यादाकी अनेक विधियां हैं.

१२९. श्रुति कहती है कि परमात्मा प्रवचनसे अथवा अधिक सुननेसे प्राप्त नहीं होता. लेकिन वह जिसका वरण करता है वह ही उसे प्राप्त कर सकता है.

१३०. हम अक्षरके ज्ञान, उपासनाकी निंदा नहीं करते लेकिन भक्तिकी स्तुतिकेलिये उन्हें गौण मानते हैं. डाली (अक्षरब्रह्म) काटनी नहीं है. फूलमें (कृष्णभक्ति) तन्मय हो जाओ. इस कारण डालीमें तन्मय होनेकी जरूरत नहीं है और न ही डालीको काटनेकी.

१३१. श्रीमहाप्रभुजीने राधा-लक्ष्मीके स्वरूपको अक्षर ब्रह्मानन्दरूप माना है. इस कारण राधा श्रीकृष्णको जो खोजती हैं वह तो स्वरूपात्मक आकर्षण है और श्रीकृष्ण राधाको जो खोजते हैं वह लीलात्मक आकर्षण है.

१३२. सेव्यका वर्णन : सेव्य प्रभुके छः गुण धर्म और एक धर्मी.

(१) ज्ञान : अभेद बुद्धिगम्यता : अपने सेव्य प्रभुमें आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है.

(२) ऐश्वर्य : देशानियम्यता : उसकेलिये सेवा स्वीकारनेकेलिये कोई भी देशका बंधन नहीं है.

(३) वैराग्य : भक्ति इतरसाधनागम्यता : वह भक्ति बिना नहीं मिल सकता.

(४) धर्मीगुण : सर्वजनाग्राह्यता : प्रकट होता है लेकिन सबको नहीं दिखता. प्रकट होता है तो भी वही व्यक्ति जान सकता है कि जिसकेलिये प्रकट हुआ है.

(५) वीर्य : प्रकाम्यता : आधिभौतिक रूपमें होते हुए भी आधिदैविकत्वका आधान करना यह उसका वीर्य है.

(६) यश : स्वर्गापवर्गाधिकता : विहित फल स्वर्ग अपवर्गकी तुलनामें विशिष्ट लगे. चाहे जितना फल दिखाओ लेकिन परमफलके साथ किसीकी भी तुलना हो नहीं सकती.

(७) श्री : स्वप्रतीत्यापिविशिष्टता : पंडित जगन्नाथ कहते हैं - अरे जीव ! तूने मिश्री, किसमिस, स्वर्गका, अमतका भी पान किया हो तो भी एक बार जो कण्ठ कहनेमें मिठास आयी वह किसी दूसरेमें आई? इसीलिये एक शायरने कहा है :

निगाहोंने देखी, मौहब्बतने मानी ।

तेरी बेमिसाली, तेरी लाजबाबी ॥

१३३. मनोरथ अर्थात् अपनी मनपसन्द सेवा भावनाके रथमें प्रभुको पधराना. लेकिन जब जनताको दिखानेकेलिये मनोरथ करते हैं तब मनोरथ मोटे तौरपर श्रीनाथकेलिये न होकर श्रीकेलिये होता है. स्वोपार्जित श्रीको श्रीनाथके मनोरथकेलिये खरचना वह भक्ति, लेकिन श्रीके मनोरथसे श्रीनाथको ठगना वह भगति है.

१३४. स्थायीभाव जब साकार होता है तब वह रूप उस भक्तके सामने प्रकट हो जाता है, दूसरेके सामने नहीं. कारण कि दूसरेके हृदयमें वह भाव नहीं है. हृदयका भाव ही घनीभूत होकर बाहर प्रकट हो जाता है. इसीलिये जिसका होता है उसे ही दर्शन होते हैं; इस कारणसे जो मनोरथ जनताको अपने

ठाकुरजीके दिखानेकेलिये करनेमें आता है वह भावमूलक न होकर अभावमूलक होता है.

१३५. जिसके लिये प्रेम है वह प्रेम स्वयं प्रियतमका रूप धारण कर लेता है.

१३६. जब सर्वात्मभाव होता है तब सबमें प्रियतम दिखता है.

१३७. रसशास्त्रमें प्रेम धर्मी है. प्रियतम धर्म है. भक्तिशास्त्रमें भगवान धर्मी और भक्ति धर्म है.

१३८. ज्ञानीकी क्रिया दोषनिवर्तनकी है. पहले मनकी गंदगी, आसक्ति साफ करो फिर ज्ञान होगा. जबकि भक्तिकी प्रक्रिया गुणाधानकी है. जिस जिस प्रक्रियासे गुणका आधान होता है वह प्रक्रिया करो, दोष अपने आप दूर हो जायेंगे. गुणाधान प्रक्रियाकी मनोवृत्तिको सदा प्रवाहित रखो जिससे वृत्ति निष्प्रवाहमान होकर निरूपयोगी न हो जाय.

१३९. गुणाधान कैसे हो? दोष देखने बंद करो. ज्ञानी पहला दोष प्रभुमें देखता है. उनकी कतिमें देखता है, जगतको मायिक और मिथ्या कह कर. भक्त गुणसे शुरुआत करता है. गुण क्या होता है? जगत प्रभुकी लीला है. यह जो नामरूपका विस्तार है वह अपने आनन्दकी अभिव्यक्तिकेलिये है. प्रभुमें जो स्वगत है वह प्रकट करनेकेलिये जगतका विस्तार हुआ है.

१४०. भक्ति परमात्मामें पूरी तन्मयता है. जो कुछ दिखता है, सुनाई देता है उसमें परहेज नहीं रहता.

१४१. लक्सरी बसमें बैठकर पिक्चर देखते देखते गंगास्नानकेलिये जानेवालेकेलिये गंगास्नान एक कर्म है. भावुक भक्तकी आँखमें गंगास्नानकेलिये जो भावतन्मयता उमड़ती है वह कर्मीकी आँखमें कहां होती है?

१४२. भक्त ज्ञानी अथवा अज्ञानी हो सकता है. ज्ञानी भक्त अथवा अभक्त हो सकता है. कितने स्नेहको अज्ञानकी वृत्ति मानते हैं. लेकिन ज्ञानीको भी स्नेह तो होता है ज्ञेयकेलिये.

१४३. जिसका संग करो उसकेलिये काम पैदा होता है. जिस प्रकार शराबीको शराबकी तलब उठती है. प्रभुका संग करके देखो, प्रभुके प्रति खिचाव उत्पन्न होगा. यह तो सीधी सादी बात है. अटपटे सिद्धान्तोंको समझनेका प्रयत्न करनेवालेकेलिये सीधी बात समझना अजीब लगता है. कहावत है कि सीधी रेखा खींचना बहुत कठिन बात है. लेकिन टेढ़ीमेढ़ी रेखा खींचना उतनी ही सरल.

१४४. जगदीशका अनादर न हो ऐसी रीतिसे जगतमें जीना चाहिये.

१४५. ब्रह्मके तटपर सत् चित् आनन्दकी गंगा बह रही है. लेकिन उस गंगामें भाव न हो तो जिस प्रकार मछली अथवा कछुएको गंगास्नानका फल या आनन्द नहीं मिलता वैसे ही भक्ति बगैर जगतमें रहनेवाले बहुत लाभोंसे वंचित रह जाते हैं. यह तो परमानन्द सागर है. लेकिन पानीमें रहने वाली प्यासी मरती मछलीको देखकर कबीरको रोना आता है **पानी बिच मीन प्यासी, मोहे सुनि सुनि आवे हांसी.**

१४६. कष्णसेवा तो डोरा है और षोडश ग्रंथोक्त सिद्धान्त मोती हैं. डोरा टूट जाये तो सिद्धान्त भी बिखर जायेंगे. जो डोरा सलामत रहेगा तो सिद्धान्त तो फिर भी पुरोये जा सकते हैं, इसलिये सेवा नहीं छूटनी चाहिये.

१४७. सर्वनिर्णयमें आपने आज्ञा करी है कि भक्तिके अतिरेकमें कदाचित् भूल हो जाये तो तुम्हें वह भूल नुकसान नहीं करेगी, प्रभु तुम्हें क्षमा कर देंगे. लेकिन कर्ममार्गीकी भूलको प्रभु क्षमा नहीं करते. उदाहरणार्थ एक बार मुझे बुखार

आया. तब कुंदनजीको (खवास) ठंडे जलका कपड़ा रखनेकेलिये कहा परन्तु उसे डर लगा कि भीगा कपड़ा रखनेसे मुझे निमोनिया ना हो जाय इस कारण उसने भीगा कपड़ा नहीं रखा. यह होनेके बाद भी उसके अति प्रेमके कारण मुझे उसके प्रति भाव खंडित नहीं हुआ. उसके बदले कोई तनखाह पानेवाला नौकर जो ऐसा करता तो उसका परिणाम तो कुछ और ही होता.

१४८. एक बार अकबरने बीरबलसे पूछा कि मैं बड़ा कि खुदा? बीरबलने तुरन्त उत्तर दिया कि आप. कारण पूछनेपर बताया, मैं आपको क्रोधित कर दूँ तो आप देशसे निकाल सकते हो. खुदा तो देशसे नहीं निकाल सकता. कारण कि ब्रह्म सर्व व्यापक है. लेकिन नहीं, भक्ति रहित व्यक्तिका ब्रह्ममेंसे देश निकाला हो गया है. गंगामें रहती मछलीका भी गंगामेंसे देश निकाला हो गया.

१४९. पहलेके आचार्य अपना मत प्रकट करते हुए कहते थे कि यह शास्त्रोंका ही निश्चित अर्थ है. आजके उपदेशक शास्त्रकी बात भी अपनी कह कर वाहवाही लूटते हैं.

१५०. श्रीमहाप्रभुजीने कहा है कि शास्त्रोंका सौबार विचार करके हरिकी आज्ञासे यह पंथ प्रकट हुआ है. मेरा सिद्धान्त वेद, रामायण या महाभारतसे विरुद्ध नहीं है.

१५१. पुस्तक तीन प्रकारकी होती हैं; अच्छी तरह पढ़नेवाली, प्रसंगोपात्त देखनेकेलिये (शब्दकोष) और शोभा बढ़ानेकेलिये. (आजके फैशनमें दीवानखानेमें सजावटकेलिये पुस्तक रखते हैं उस प्रकार).

पुष्टिजीव : पढ़नेकी पुस्तक जैसे हैं. अर्थात् भगवदसेवामें उपयोग आयें ऐसे.

मर्यादाजीव : प्रसंगोपात्त देखनेवाली पुस्तक जैसे हैं. जो कभी कभी भगवदसेवामें उपयोगमें आते हैं.

प्रवाहीजीव : सष्टि चल रही है उसको दर्शानेकेलिये शोभाकेलिये रखी गई पुस्तक जैसी है. सष्टिके अस्तित्वकेलिये जीव जन्मते हैं. भगवदसेवाकेलिये उनका कोई उपयोग नहीं है. अलबत्ता लीलाकी सजावटकेलिये उनका उपयोग है.

१५२. प्रभुने एकतामें अनेकता प्रकट करी है. इस अनेकतामें एकताका ज्ञान होना वह ज्ञानीका सर्वात्मभाव और इस अनेकतामें एकताका भाव (स्नेह भाव) होना वह भक्तका सर्वात्मभाव.

१५३. ज्ञानीमें भान मुख्य है, भाव गौण है. भक्तमें भाव मुख्य है और भान गौण है. ऑपरेशन थियेटरमें मरीज आखरी सांस लेता हो तब डॉक्टरको उसका भान होता है लेकिन उसके प्रति हृदयमें भाव नहीं होता. जबकि मरीजके आत्मजनोंमें भाव मुख्य होता है, भान गौण होता है.

१५४. अपनको अंगूठी, हार, चूड़ी ऐसा अलग अलग दिखाई देता है, लेकिन चोरको तो सब सोना नजर आता है. इस प्रकार ज्ञानी लोग अनेकतामें एकताका आनंद लेते हैं.

१५५. सर्वात्मभाव यह मनका धर्म है. जब तलक मन भगवदरसमें सराबोर न हो जाये तब तलक उसे प्रभु सम्बन्धित व्यवहार पूरे तौरपर अच्छे नहीं लगते; नवीनताके तौरपर थोड़ी देर अच्छे लगते हैं, लेकिन बादमें मन उसमेंसे बाहर आनेकेलिये मचल उठता है. जबकि सच्चे भक्तको भगवदरसमेंसे थोड़ी देर भी बाहर आना मछलीकी तरह नागवार गुजरता है.

१५६. शहरी जीवनके शोर शराबेके हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि गांवकी अति शांति हमें अखरने लगती है. उसी

प्रकार आंख, कान, नाक, स्पर्श इत्यादि इन्द्रियोंके विषयोंके रस लेनेकी जीवको आदत सी पड़ गई है जिस कारण शुद्ध भगवदरसमें वह आनंद नहीं ले पाता.

१५७. मानसी अर्थात् सतत सेवाका ही विचार मनमें चले वह. कृष्णसेवा ब्रज, मथुरा और द्वारिकाके अनेक भक्तोंने करी है, लेकिन अपने यहां तो केवल ब्रजभक्तोंकी मानसी सेवाका ही अमुक प्रकार स्वीकारनेमें आया है.

१५८. मैं अर्थात्? मैं में बहुत सी वस्तुओंका समावेश हो जाता है. मन, बुद्धि, आत्मा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, देह कुलका अभिमान वगैरह. मैं अर्थात् प्रभुका सेवक. जो तुम्हें प्रभुके सेवक होनेका अहम् है तो जितनी वस्तुओंके मैंपनेका विनियोग नहीं हो वह सब अनिवेदित रहेंगी. उदाहरणार्थ गो. बालकोंके यहां पंच द्राविडके हाथका खाया जाता है. मर्यादी वैष्णव बिनमर्यादी वैष्णवके साथ छूत-छात रखते हैं अपने अमुक अहम् होनेके कारण, और उस अहम्के समर्पित होनेके कारण घरमें बिराजते ठाकुरजीको भी वह मेंड पालनी पड़ती है.

१५९. बहुत करके भावभूमिपर सेवा करनी चाहिये. माहात्म्यज्ञान, सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह, शास्त्रोक्त नवधाभक्ति, अपनी सामर्थ्य इत्यादि सबकी अभिव्यक्ति सेवामें होनी चाहिये. बालकको जिस प्रकार गोदमें भींचकर स्नेह अभिव्यक्त करते हैं उसी प्रकार सेवामें स्नेह अभिव्यक्त होना चाहिये. शुरुआतमें कदाचित् स्नेह न भी हो लेकिन बालककी तरह मुद्रा करते करते भी स्नेह प्रकट हो जायेगा. सेवामें अपन ब्रजभक्तोंके स्नेहकी अभिव्यक्तिको स्वीकारते हैं, मथुरा तथा द्वारिकाके भक्तोंकी नहीं.



१६०. ब्रजभक्तोंको अपन पूरे पूरे तौरपर नहीं अनुसर सकते. श्रीमहाप्रभुजीने उसकी सीमा बांधी है. उदाहरणार्थ यशोदामाँने तो पिटाई भी की है. गोपियोंने स्नेहके आवेशमें गाली भी दी है. अपन वैसा नहीं कर सकते. कारण? गोपियोंको माहात्म्यज्ञान नहीं था और अपनेमें गोपियों जैसा स्नेह नहीं है. इसलिये श्रीमहाप्रभुजीने सीमा बांधी है कि ब्रजभक्तोंका अनुसरण करो लेकिन उनके सर्व भावोंका नहीं. माहात्म्य ज्ञानको नुकसान पहुँचे ऐसी भाषा नहीं बोलनी. जब तलक मियां बीबी नहीं बने तब तलक काजीकी दखलअन्दाजी तो स्वीकारनी पड़ेगी; अर्थात् जब तक प्रभुके साथ अंतरंग सम्बन्ध नहीं हुआ, सानुभाव नहीं हुआ वहां तलक श्रीमहाप्रभुजीकी बांधी हुई मर्यादा स्वीकारनी चाहिये.

१६१. माहात्म्यज्ञान भी इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि प्रभुको शयन कराना, खिलाना इत्यादिकी क्या जरूरत है ऐसे विचार दिमागमें आयें.

१६२. तुम्हारे पास जो कुछ है उसके हिसाबसे सेवा करो. ब्रजभक्तोंने जो धराया उतना घी दूध मक्खन कहांसे लाओगे. परिस्थिति बदलनेपर नेग भी घटाना पड़ता है.

१६३. जिस वस्तुका अपनेको अहम् न हो वह वस्तु समर्पित करनेकी जरूरत नहीं है. पहले हमारे तातजी महाराजको एक अंग्रेजका हाथ लग गया. इस कारण उन्होंने तीन दिनका उपवास और जप किया. लेकिन आजकलके जमानेमें ऐसा अहम् नहीं है कारण कि लोगबाग इसे जरूरी नहीं समझते. तातजी महाराजमें ब्राह्मणास्मिता प्रबल थी इसलिये ऐसा व्यवहार उनकेलिये ठीक था लेकिन अगर ऐसा अहम् न हो तो ऐसी कड़क अपरस पालनी जरूरी भी नहीं है. नियमको यंत्रवत

बनाना और स्वयंमें अहम्का न होना तो ऐसे किसी दूसरेकी वस्तुका समर्पण तो कदापि जरूरी नहीं है.

१६४. कष्ण द्वारिकामें कदाचित शिकार खेलते होंगे लेकिन हम शिकारका मनोरथ नहीं करते, कारण कि व्रजमें आपने ऐसा नहीं किया.

१६५. गोपियोंने प्रभुको खोजनेकेलिये न तो अहम्की परवाहकी और न ही नवधाभक्ति अथवा शास्त्रोक्त शुद्धि अशुद्धिकी परवाह करी. कारण? उनमें तन्मयता थी. उन्हें मार्गकी गरज नहीं थी. खुद प्रभुके पास दौड़ी तब दूसरी गोपी आ रही है अथवा नहीं उसका तो उन्हें भान ही नहीं था. इस रीतिसे आनेवाले व्यक्तियोंसे पगडंडी बन जाती है. लेकिन श्रीमहाप्रभुजीने तो इस पगडंडीको मार्गमें बदल दिया. मार्ग बननेके बाद हम गोपियोंकी तरह अनियन्त्रित नहीं दौड़ सकते. मार्गके सारे नियमोंको ध्यानमें रख कर ही चलना पड़ेगा. मार्गमें ब्रह्मवादकी टैर्चलाइटके बगैर अपन ठोकर खा बैठेंगे. जैसे कि कोई कहेगा कि इस पत्थरकी अथवा धातुकी पूजा करते हो तो जो अपने पास ब्रह्मवादकी टैर्चलाइट न हो तो पुष्टि पथपर चलनेकी श्रद्धा डगमगा जायेगी और हम ठोकर खाकर गिर जायेंगे.

१६६. बालक पढ़नेका फल या हेतु न जानता हो लेकिन बड़ोंके कहनेसे पढ़ता है तो भविष्यमें उसका लाभ मिलता है. उसी प्रकार सेवाफलको समझे बगैर, गुरुके कहनेसे सेवा करें तो भविष्यमें उसका फल मिल सकेगा.

१६७. जिस प्रकार गंगामें जलके घटने बढ़नेसे उसकी तीर्थरूपतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता.

१६८. ब्रह्म स्वयं अक्षर है. क्षरता यह ब्रह्मकी सामर्थ्य है. यह उसका स्वभाव नहीं है (स्वभाव अनियम्य होता है). जिस

प्रकार क्रोध सामान्य मनुष्योंका स्वभाव होता है लेकिन ऋषियोंने भी, जिन्होंने क्रोधके ऊपर पूर्ण संयम पा लिया था, क्रोध किया था यह उनकी सामर्थ्य थी.

१६९. धनिक लोगोंके पास प्रचुर मात्रामें धन दौलत और जेवरात होते हैं. इसके उपरान्त कितने आभूषण पहनने अथवा नहीं पहनने यह उनकी इच्छाकी बात है. ऐसा तो नहीं है कि जितने जेवरात हैं उन्हें सारी दुनियांको दिखानेकेलिये पहनना ही चाहिये. इसी प्रकार जगतमें अक्षरब्रह्म रूप प्रकट होना या नहीं यह उसकी इच्छाकी बात है.

१७०. सत् = होना. उदाहरणार्थ पुस्तक, मकान, चश्मा ..... चिद् = अपने होनेका भान होना. उदाहरणार्थ अपनेको मनुष्य होनेका भान होना. कभी सुख रूप होता है, कभी दुःख रूप (बीमारी, व्यापारमें नुकसान इत्यादि दुःख रूप लगता है). जब होनेके भानमें हमेशा सुखरूपता हो तब वह सच्चिदानंद कहलाता है.

१७१. आनन्द कभी जड़रूप नहीं होता, चिद् कभी असत् नहीं हो सकता. चिद्में आनन्द हो अथवा न भी हो. लेकिन आनन्दमें सत् और चिद् दोनों आ जाते हैं. आनन्द जो है वह ही ब्रह्मका पूरा पूरा वर्णन है. लेकिन दूसरे लोग उसको गलत न समझें इसलिये आनन्दको सत् और चिद् है ऐसा कहना पड़ता है. (जिस प्रकार दूसरा आदमी उससे टकरा नहीं जाये इसलिये अंधे आदमीको बैटरी रखनी पड़ती है).

१७२. उपनिषद कहता है आनन्दसे जगत उत्पन्न हुवा है. आनन्दमें स्थित है और आनन्दमें लय होता है. इसलिये आनन्दकी जिज्ञासा करो.

१७३. ब्रह्मका मुख्य लक्षण आनन्द ही है. सत् चिद् तो समझनेकेलिये शब्द ही हैं, लक्षण नहीं.

१७४. श्रीमहाप्रभुजी शुद्धाद्वैतवादी कहलाते हैं. लेकिन उनकेलिये योग्य संबोधन साकार ब्रह्मवादैक स्थापक है. ब्रह्म अर्थात् जो व्यापक है वह. तर्कशास्त्रके अनुसार व्यापक कभी साकार नहीं हो सकता, लेकिन श्रीमहाप्रभुजी उसे नहीं स्वीकारते.

गणितमें जिसे एक कहते हैं वह एक काम चलाऊ व्यवस्था है. उदाहरणार्थ मगशीर्षनक्षत्रमें दिखते एक तारेको दूरबीन द्वारा देखनेपर उसमें एक करोड़ तारे दिखाई देंगे. एक हथेली लेकिन अंगुलीकी दृष्टिसे पांच हैं. एक शरीरमें अंग प्रत्यंग अनेक हैं. गणितकी इस काम चलाऊ व्यवस्थाका वास्तविकताके साथ कोई लेना देना नहीं है. साकारता व्यापकताका यह झगड़ा एक दो जैसा है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं : साकार भी व्यापक हो सकता है. पृथ्वी साकार है लेकिन उसके आसपास तीनलाख मीलका गुरुत्वाकर्षणका घेरा है जिसके द्वारा वह चन्द्रको पकड़ रही है. वह निराकार पृथ्वी है और यह तीन लाख मीलका विस्तार नहीं दिखती हुई भी मौजूद है. तर्कशास्त्रके अनुसार साकार निराकारका कठोर अर्थ नहीं लेना. पर तत्व साकार है और उसका अर्थ है कण. यह कण ब्रह्म है और उसका अर्थ साकार होते हुए भी व्यापक है.

साकारकी व्यापकता : अक्षरब्रह्म

व्यापककी साकारता : पुरुषोत्तम

१७५. साकारता अथवा व्यापकता, तुम इन दोनोंमेंसे जिस किसीको देख रहे हो उसके द्वारा दूसरेको देखनेकेलिये दिव्यदृष्टि चाहिये. अर्जुन कणको साकारपुरुष रूपमें देख रहा था. उसे ब्रह्मता दिखानेकेलिये कणको दिव्य दृष्टि देनी पड़ी. दूसरे कितने ब्रह्मज्ञानी व्यापकब्रह्मका अनुभव करते हुए भी

कष्णके दर्शनसे वंचित रह जाते हैं. कारण कि उन्हें दिव्य दृष्टि नहीं मिली. लेकिन अगर मिले तो श्रीकष्ण दिखाई दें.

१७६. पुरुष समष्टि = व्यापक चेतना; व्यष्टि जीव = देहमें बद्ध चेतना. हवामें नमी जैसे सर्वत्र व्यापक है लेकिन बरफके पानीका गिलास हवामें रखनेपर बाहरकी नमी पानीकी बूंद बन कर गिलासके बाहर दीखती है, वैसे ही व्यापक चेतनामेंसे देहबद्ध चेतनावाला जीव प्रकट होता है. बाहरकी नमी बरफको मिलनेका प्रयत्न करती है, लेकिन बीचमें गिलासकी दीवार होनेके कारण मिल नहीं सकती उसी प्रकार सत् अंशमें, आनन्दको खोजने, पुरुष समष्टिमेंसे व्यष्टि चिदंश होकर बाहर आता है.

१७७. समष्टि अंतर्यामी : जो पथ्वीके भीतर रहकर पथ्वीका नियमन करता है.

व्यष्टि अंतर्यामी : प्रत्येक जीवात्माके भीतर रहा हुआ प्रभु. समष्टि अंतर्यामीके सब अवतार होते हैं. चौबीस अवतार लीला अवतार कहलाते हैं. ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये गुणावतार कहलाते हैं.

१७८. उपनिषदमें है कि जिस प्रकार अग्निमेंसे चिंगारी निकलती है उसी प्रकार ब्रह्ममेंसे जीव प्रकटा है. अग्निको आनन्दात्मकब्रह्म कहो. उसमें निकलती चिंगारी प्रारम्भमें अग्नि ही होती है लेकिन बादमें धीरे धीरे यह अग्नि शांत होती जाती है और केवल उष्णता रह जाती है. उष्णता अर्थात् चिदंश. यह उष्ण चिंगारी जीवके रूपमें गिनी जा सकती है, जिसमेंसे आनन्दअंश (अग्नि) तिरोहित हो गया है. मात्र चिद् और सद् अंश है. थोड़ी देर बाद उसमेंसे उष्णता भी चली जायगी. मात्र काला कण रह जायगा. यह कण जगतका सद् अंश है जिसमेंसे चिद् और आनन्द अंश तिरोहित हो गया है.

१७९. श्रीशंकराचार्यजी जगतको सत् नहीं कहते कारण कि उसका बाध होता है और असद् भी नहीं कहते कारण कि दिखाई देता है. इसलिये वह उसे सदसद् विलक्षण अथवा मिथ्या कहते हैं. यहींसे फिर विवाद शुरू होता है.

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं : जगतको या तो सद् मानो, अथवा असद् लेकिन विलक्षण किस कारण मानना चाहिये? जगत प्रतीत भी हो रहा है और जो बाधित भी अगर हो रहा है तो दोनोंको स्वीकारो. वास्तवमें अद्वैत दिखता है और अद्वैतमें द्वैत दिखाई देता है. हथेलीके एकत्वमें अंगुलीयोंके पंचत्वका जिस प्रकार बाध नहीं होता; प्रह्लादने जिस प्रकार नर और सिंह दोनोंके एक ही स्वरूपमें दर्शन करे, उसी प्रकार ब्रह्मके दोनों रूपोंको स्वीकारना चाहिये. ब्रह्मका स्वरूप श्रुति द्वारा ही समझा जा सकता है और श्रुतिको तो दोनों रूप स्वीकार्य हैं. ब्रह्मज्ञान हुवे पीछे श्रीशंकराचार्यजीकेलिये तो ईश्वर, ब्रह्म, शिष्य, शास्त्र सब कुछ बाधित हो जायगा. तो बादमें उसका उपदेश किस प्रकार दिया जा सकेगा? उसके लिये कहते हैं : सर्पमें रस्सीका ज्ञान होनेके बाद भी हृदयमें जो थोड़ी देरके लिये कम्पन रह जाता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान होनेके बाद थोड़े समय तक शिष्य शास्त्र आदिका भेद रह जाता है उस समयमें उन्हें उपदेश दिया है.

१८०. मायामें विरुद्धधर्मत्व दूषण है, लेकिन ब्रह्ममें वह ही वस्तु भूषण रूप बन जाती है. भूषण इस प्रकार कि सर्वत्र लीलाका बोध होने लगेगा.

१८१. पुरुष = चेतन. प्रकृति = जड़ पुरुषमें क्रिया, ज्ञान संभव है लेकिन प्रकृतिमें संभव नहीं है. प्रकृति उसे प्रकट कर सकती है. पुरुषके सानिध्यसे प्रकृतिमें खलबलाहट होती है और जगत उत्पन्न होता है. पुरुष प्रकृतिका संबंध पंगु और अंधेका

संबंध जैसा होता है. दोनोंके संयोगसे कार्य सिद्ध होता है. उदाहरणार्थ -पंखा जड़ निष्क्रिय है, वह अपने आप नहीं चल सकता. बिजली चेतन -सक्रिय है, लेकिन हवा नहीं फैंक सकती. पंखा बिजली दोनों मिलकर हवा फैंक सकते हैं. चेतन और चेतनाका सम्बन्ध धर्मी और धर्मके सम्बन्ध जैसा है. चेतन = धर्मी. चेतना = धर्म.

१८२. सूरदासजी जैसा कीर्तनकार हो, श्रीगुसांईजी जैसा भोग धरनेवाला हो, तो भी श्रीनाथजीने नहीं आरोगा ऐसा वार्ता प्रसंग है. तो प्रभु अभक्तका तथा कर्मकांड द्वारा धरा हुवा किस प्रकार आरोगेंगे?

१८३. भौतिकता खाली शहरोंमें ही नहीं बढ़ी है; लेकिन यात्रा धामोंमें भी बढ़ी है, इसलिये भौतिकतासे भागना व्यर्थ है. श्रीनाथद्वारामें भी प्रभुका प्रसाद बिकता है. क्योंकि वहांके सेवकवर्गको प्रसादकी बजाय द्रव्य अधिक अच्छा लगता है, यह वहांकी घोर भौतिकता सूचित करती है.

१८४. स्नेह दो के बीचमें होता है लेकिन उसमें जो अद्वैतका आरोप न हो तो वह स्नेह कच्चा है. उसी प्रकार जब प्राण एक हो जाय तब एकका दुःख, अपमान इत्यादि सब कुछ दूसरेको भी अपना ही लगता है.

स्नेहके कारण जो अभेद बुद्धि आती है वह उसकी कोमलता है. यह हृदयमें होता भाव है. द्वैतका भान तो होगा लेकिन भाव अद्वैतका होगा. अतिशय स्नेहके कारण अभेद भाव उत्पन्न होगा और साथ साथ दर्शन भी होगा. ज्ञानके कारण जो अभेद अनुभवमें आता है यह उसकी कठोरता है. यह बुद्धिमें प्रतीत होता भान ही है.

स्नेहकी आवश्यकता दो की है. उसका परिपाक अद्वैत है. यह स्नेह एक पक्षका भी हो तो भी अभेद अनुभवमें आता है मैं

तुझे चाहता हूँ इसलिये कि तू कपालु है, नहीं; इस लोक परलोककी किसी चाहनासे नहीं, लेकिन चाहनेकी खातिर ही चाहता हूँ; तूने कपा करनी है कि नहीं यह तेरी इच्छाकी बात है, मेरी नहीं. परमानन्ददासजीने कहा है कि जो मेरो यह लोक जायगो अरु परलोक नसाय री. नन्दनन्दन को तौऊ न छांडू मिलोंगी निसान बजायरी .

१८५. माताका बालकमें स्नेह यह स्थायी भाव है. बालकके कारण कभी कभाद अनुभवमें आती परेशानी या क्रोध यह संचारी भाव हैं. उस ही प्रकार भक्तिमार्गमें तू मेरा है यह स्थायी भाव है. मैं तेरा हूँ और अपन दोनों एक हैं (अहं ब्रह्मास्मि) यह संचारी भाव है. ज्ञानमार्गमें अहं ब्रह्मास्मि स्थायीभाव है बाकी सब संचारी हैं. केवलाद्वैतद्रष्टा श्रीशंकराचार्यजीने इन संचारी भावोंके असरको गौण नहीं माना उसी कारण उन्होंने सुंदर स्त्रोत्र रचे हैं. भक्तका तू मेरा है दढ़ भाव है. कारण कि उसमें निश्चल निर्भरता है.

१८६. अपरिच्छिन्न ब्रह्ममेंसे प्रगट होती अपनी वैयक्ति चेतना कितनी क्षुद्र है और इस क्षुद्र अहंतासे अनुभवमें आती कर्तृत्व शक्ति, भोक्तृत्व शक्ति, क्रिया शक्ति, बल, ऐश्वर्य भी कितने क्षुद्र होते हैं; यह सब होते हुये भी उनके क्षुद्र बलके ऊपर ब्रह्मको नापना या मापना यह मूर्खता है. नन्ददासजी कहते हैं चातक की चोंच पुट सब घन कैसे समाय. लेकिन जो अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्वको ब्रह्मके साथ संबंधित कर लें अर्थात् सर्वत्र लीला बोध रखें तो संगति बैठेगी, नहीं तो दुर्गति होगी. तुम्हारे द्वारा जो कुछ हो रहा है वह लीला है ऐसी दृष्टि होनेपर दुःखका अनुभव हलका होगा.

१८७. जिस भक्तमें भगवद्सानिध्य है उसमें भगवद्भाव रखना चाहिये.



१८८. नदीमें जब बाढ़ आती है तब वह किनारेपर उभरती है और किनारोंको ढांप देती है. उस ही प्रकार छलकती भक्तिके पूरमें आधिभौतिक तथा आधिदैविक दोनों किनारे ढंक जाते हैं. जब तलक भक्ति नहीं छलकती तब तलक इन दोनों किनारोंका भेद स्पष्ट रहेगा.

१८९. क्रिकेट खेलते हुवे हाथ पैर टूटे उपरांत किसीको उसकी फिक्र नहीं होती कारण कि यह मजेकेलिये है. अन्यथा लड़ाई झगड़ा करके डंडेसे किसीका माथा फोड़ो तो पुलिस केस बन जायेगा. उसी प्रकार माया कराये तो दुःख और ब्रह्म कराये तो सुख कारण कि ब्रह्म परमानन्द रूप है अर्थात् सुख दुख दोनोंमें आनन्दप्रद है. साहिल भी अपना तूफां भी अपना. क्या पार उत्तरें क्या डूब जायें. अब उनकी मरजी वो आयें या न आयें.

१९०. भक्तिमें माहात्म्यज्ञानका सहारा लेना यह व्यापारकेलिये बैंकमेंसे उधार लेने जैसा है. व्यापार जमनेके बाद उधार चुका देना चाहिये कारण कि फिर उसकी जरूरत नहीं रहती.

१९१. कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभिमान यह ही उपाधि है. इस अविद्यासे संसार होता है. जीव अंश है और अंशीमें ही स्थित है लेकिन जीवको अनुभव नहीं होता वही उसकी उपाधि है.

१९२. ज्ञानमार्गमें घटाकाशका उदाहरण दिया जाता है. भक्तिमार्गमें कर्णका उदाहरण योग्य लगता है. वह अज्ञानसे अपनेको सूतपुत्र समझता था. वह अपना असली स्वरूप अज्ञानसे भूल गया था.

गलेमें हार होते हुवे भी भूलनेपर सब ठिकाने ढूंढा जाता है उसी प्रकार अपनी ब्रह्मात्मकता खोई गई है. खाली कोई कह दे कि हार गलेमें ही है तो मिल जायगा. उस ही प्रकार अपनी

ब्रह्मात्मकताकी जानकारी हो सकती है. सर्व ब्रह्म है इसलिये मैं भी ब्रह्म हूँ इसका नाम ब्रह्मात्मकता और खाली मैं ही ब्रह्म हूँ वह ब्रह्मता. ब्रह्मात्मकता = सर्व ब्रह्म है इसलिये मैं ब्रह्म हूँ. ब्रह्मता = मैं ही ब्रह्म हूँ इसलिये सब कुछ मिथ्या है.

१९३. अपने भीतर जब ब्रह्मात्मकताका अनुभव होगा और अपनेको महसूस होगा कि मैं खुद ही अक्षर हूँ; और अक्षर तो पुरुषोत्तमका अधिष्ठान है तो मेरेमें भी परमात्मा प्रकट हो सकता है. लेकिन जब तलक यह समझमें नहीं आता तब तलक प्रभु केवल गोलोक अथवा बैकुण्ठमें ही हैं ऐसा लगेगा.

१९४. बुद्धिमता या शास्त्रज्ञता यह ज्ञानमार्गीय ज्ञान नहीं है. यह तो पायोंकी जरूरत है, जो कर्म, ज्ञान, भक्ति और संसारमें भी चाहिये.

१९५. अपन जैसे घरमें फ्रिज, टी.वी. रेडियो इत्यादि रखकर उसका आनन्द लेते हैं वैसे ही प्रभु जगत प्रकट करके उसमें आनन्द लेते हैं. जिस प्रकार बालकको जन्म देकर मां बाप उसमें आनंदित होते हैं. पुष्टि जीवके साथ प्रभु पुष्टिलीलाका आनन्द लेते हैं, मर्यादा जीवके साथ प्रभु मर्यादा लीलाका आनन्द लेते हैं, प्रवाही जीवके साथ प्रवाह लीलाका आनन्द लेते हैं; प्रभु तो सर्वमें से निरुपाधि आनन्द ले रहे हैं. लेकिन अपनेमें क्या कमी है कि अपन अगर प्रवाही हैं तो कष्णका भी आनन्द नहीं ले सकते. प्रभु तो पत्र पुष्पसे भी आनन्द लेते हैं तो पुष्टि जीवसे क्यों नहीं आनन्द लें?

१९६. जीव जब जड़से आनन्द लेनेका प्रयत्न करता है अथवा जब जीव जीवके साथ आनन्द लेनेका प्रयत्न करता है वह तो केवल क्षणिक होता है लेकिन जब जीव कष्ण द्वारा आनन्द लेता है तब वह निरवधि हो जाता है कारण कि

कष्णका स्वयंका आनन्द जीवमें चमकता है. इस आनन्दका मूल कष्ण ही होनेसे उसकी कोई अवधि नहीं रहती.

१९७. पुष्टि भक्त द्वारा जो प्रकटित आनन्द है वह मूलमें तो कष्णके आनन्दका ही परावर्तन है; अथवा तो भक्तमें जब प्रभुके कपानन्दका प्रेमानन्द रूपमें प्रतिबिंब पड़ता है तब प्रकट होता आनन्द समुद्र जैसा हो जाता है जिसमें प्रभु विहार कर रहे होते हैं. यह आनन्द कैसा है? प्रभु द्वारा दिया गया है स्वरूपात्मक है; नहीं तो प्रभुकी आत्मरमणता खंडित हो जाय. भक्त कहता है: मैंने स्तुति करी है लेकिन तेरी प्रेरणासे. इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, लेकिन तुझे तो उसके द्वारा आनन्द मिला न?

जिस प्रकार तोता हमारी सिखाई बोली बोलता है और उसे सुनकर अपन प्रसन्न होते हैं ऐसे ही जगतमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व ब्रह्मका ही है. अपन तो उसके खिलौने हैं.

१९८. श्रीशंकराचार्यजी, ब्रह्म मायाके कारण जीव जगतके रूप में भासित होता है, यह बात तीन तरहसे समझाते हैं:-

(१) अवच्छेदवाद : महाकाश = परब्रह्म, घटाकाश = जीव, घड़ा = अविद्या.

(२) प्रतिबिम्बवाद : व्यक्तिके सामने दस शीशे रखो तो उसमें दस ही प्रतिबिम्ब पड़ेंगे. व्यक्ति एक होते हुए भी उसके अनेक प्रतिबिंब पड़ते हैं. उसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी मायाके दर्पण के कारण अनेक जीव रूपमें ब्रह्मके अनेक प्रतिबिंब पड़ते हैं. बिम्ब = ब्रह्म, प्रतिबिंब = जीव, दर्पण = माया.

(३) व्याधसूनु पक्ष :- राजकुमारको शिकारी पाले तो राजकुमार अपनेको शिकारी समझने लगता है. (कौन्तेय - राधेयकी तरह)

लेकिन हम कहते हैं कि ब्रह्म अपने सकल्पसे एकमें से अनेक बना है. आनन्दका तिरोभाव भी ब्रह्मकी इच्छासे ही हुवा है. कारण ब्रह्मकी तरह जीव भी आनन्दात्मक हो तो लीला भली प्रकार न हो.

श्रीशंकराचार्यजी अपने आपको मायावादी नहीं कहते, अपन उनको मायावादी कहते हैं ; कारण ब्रह्मके एकमें से अनेक होनेके कारणमें शंकराचार्यजी पहले ही चरणमें माया को ले आते हैं लेकिन हम आखिरी चरणमें मायाको लाते हैं.

(क) अखंड सच्चिदानन्द (ख) एकका अनेकत्व (श्रीशंकराचार्यजी = अशुभ अविद्या या मायाके द्वारा; श्रीवल्लभाचार्यजी = शुभ लीलाके संकल्पसे) (ग) आनन्दका तिरोधान : ब्रह्मने क्रीड़ाकेलिये यह सब किया है ऐसा अपन मानते हैं. श्रीशंकराचार्यजीके अनुसार वह अपनी अज्ञान जन्य भ्रान्ति है. (घ) जीवमें ज्ञानका अभाव. (ङ) अविद्याके सम्पर्कमें आनेके बाद जीव अपने ब्रह्मत्वको पहचान नहीं सकता. यहां आखिरी चरणमें अविद्या जीवका स्पर्श करती है. लेकिन श्रीशंकराचार्यजी पहलेसे ही उसे लगाते हैं इसलिए हम उनको मायावादी कहते हैं.

१९९. जीवमें जब ब्रह्मके गुण प्रवेश होने लगते हैं तब उसे ब्रह्मकी व्यापकताका अनुभव जरूर होता है लेकिन स्वयं व्यापक नहीं बनता और जब व्यापक बन जाता है तो जीव नहीं रहता. इस व्यापकताके अनुभवमें बहुतोंको 'मैं सूर्य हूँ' 'चन्द्र हूँ' ऐसा अनुभव होता है.

२००. भक्त शंगार धराये हुए प्रभुके दर्शन करता है. अभक्त भगवानके धराये हुए शंगारके दर्शन करता है. अभक्तोंकी आंख शंगारमें ही अटकी रहती है. प्रभु तलक नहीं पहुंचती. आज तो केसरका हिंडोरा है, आज तो छप्पन भोगके दर्शन हैं

ऐसा जब लोग कहते हैं तब प्रभुकी बजाय भोगका महत्व बढ़ जाता है. भक्तको भोक्ता दीखता है अभक्तको भोग.

२०१. माणिकचंदने सर्वस्व निवेदन किया वह सिद्धान्त नहीं लेकिन मनोरथ है. मनोरथ कर सकते हैं लेकिन वह ही सिद्धान्त है ऐसा नहीं समझना चाहिये. दामोदरदासजी सम्भलवाले कितने पान आरोगाते थे वह लेकिन उनका मनोरथ ही था.

२०२. शुद्धपुष्टि = माहात्म्यज्ञान नहीं है, मात्र स्नेहसे स्वरूपको जानना है. लेकिन वह ज्ञान भक्तकी गरजके बगैर जानना है; इसलिये उसको ज्ञान हो अथवा न हो, फरक नहीं पड़ता. लेकिन पुष्टिपुष्टिमें माहात्म्य साथमें जानना है.

२०३. तामसी भक्तोंको तामसलीला अच्छी लगती है; जीव स्वभाव नहीं बदल सकता इस कारण प्रभुको त्रिविध लीला करनी पड़ी. बच्चेके साथ बच्चे जैसी बात हो तो बात बनें, नहीं तो अधबीचमें ही अटक जाये.

२०४. मिश्र कक्षाका जीव व्यसन दशा तक पहुंच सकता है लेकिन यह प्रभुको खोजनेवाले जीव हैं. शुद्धपुष्टिजीव भक्ति बिना हो सकता है लेकिन इनको प्रभु स्वयं खोज रहे होते हैं. नंदगहमें प्रागट्यके पहले गोकुलके गोप गोपियोंमें प्रेम आसक्ति व्यसन वगैरह नहीं थे.

२०५. पुष्टि प्रवाह मर्यादाके जीवोंमें परिवर्तन नहीं होता लेकिन पुष्टिप्रवाह, पुष्टिमर्यादा और पुष्टिपुष्टिमें वरण और सोपान दोनोंके भाव हैं इसलिये एकसे दूसरेमें जाते हैं (बहुतसे टीकाकार कहते हैं कि नहीं भी जाते).

0000000000

**नवरत्न**

१. उपनिषदमें श्लोक है कि आहार शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है. मन शुद्ध होनेसे स्मृति स्थिर रहती है. स्मृति अर्थात् परमात्माके प्रति करे हुए निवेदनकी स्मृति. आकाशमें जैसे समग्र तारामण्डल अपना स्थान बदलता है लेकिन वह अचल ध्रुवके आसपास ही घूमता है, वैसे ही दुनियांके सारे लौकिक व्यवहारोंको चलने देना लेकिन मनमें स्मृति अखण्ड रखनी.

२. अशक्तिके कारण सेवा न हो सके तो भी आत्मनिवेदनकी स्मृति तो बनी ही रहनी चाहिये.

३. जिस व्यक्तिके संगसे आत्मनिवेदनका भाव आत्मसमर्पणमें विकसित न हो वैसा व्यक्ति, विचार अथवा पुस्तकका संग, संग दोष है.

४. प्रभुके गुण अनन्त हैं, लेकिन अपनेमें जो बीजभाव है उसके अनुरूप गुणमें अपनी आसक्ति होती है. किसीको टेलीस्कोपसे देखना पसन्द आता है, किसीको माइक्रोस्कोपसे देखना अच्छा लगता है. अर्थात् किसीको प्रभु महान हैं, अनेक ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, सष्टिके पालन करता हैं ऐसे गुणमें आसक्ति होती है, किसीको कुछ दूसरे गुण प्यारे लगते हैं जैसे कि प्रभु जिद्दी हैं, नटखट हैं. जयदेवजीसे प्रभुने कहा तू चोरी कर और तेरी जो पिटाई होगी उसे मुझे देखना है. प्रभुकी जिद जयदेवजीको पूरी करनी पड़ी और मार खानी पड़ी.

५. भक्तिका ज्ञान अथवा अज्ञानमें बंटवारा नहीं हो सकता. भक्ति एक तीसरी कोटिमें है. भक्तिभाव ज्ञानीको भी हो सकता है, अज्ञानीको भी. स्नेह अथवा भक्ति ज्ञान-अज्ञानसे अलग तीसरी ही अवस्था है.

कारागारमें जब प्रभु प्रकट हुवे तब उस चतुर्भुज स्वरूपकी देवकीजीने स्तुति करी..... आप सष्टिके पालनकर्ता हो, कालके

नियामक हो इत्यादि. लेकिन जब स्नेह उमड़ पड़ा तब कहने लगीं कि आप जल्दीसे अपना स्वरूप छिपा लो, कंस आपको देख लेगा तो मार डालेगा... इस प्रकार स्नेहमें कहां तो ज्ञान-अज्ञान दोनों रहते हैं, अथवा कोई भी नहीं रहता.

७. गुणासक्ति और स्वरूपासक्तिमें बहुत भेद है. प्रभुके अनन्त गुण हैं लेकिन अपनी आसक्ति किसी-किसी गुणमें ही होती है. उदाहरणार्थ, जो हम अति गंभीर स्वभावके हों तो बच्चेकी शैतानी हम पसन्द नहीं करते, लेकिन जो स्वभाव थोड़ा शरारती हो तो बच्चोंकी शैतानी चलने देते हैं. बच्चेमें तो दोनों गुण हैं, लेकिन हम अपने स्वभावके अनुसार गुण पसन्द करते हैं, वैसे ही प्रभुके गुणोंको समझना.

८. किसीको गुणासक्तिके बाद स्वरूपासक्ति होती है. किसीको स्वरूपासक्तिके बाद गुणासक्ति होती है. इसमें कोई नियम नहीं है लेकिन दोनों जरूरी हैं. दोनोंके बिना भक्ति अधूरी है. नामसेवा और स्वरूपसेवा दोनोंमें आसक्ति हो तो भक्ति पूरी खिल उठती है.

९. सारे जगतको ब्रह्मरूप जानना चाहिये. लेकिन ब्रह्मका आनन्द उसमें खोजना नहीं चाहिये.

१०. नवरत्नमें सिद्धान्त नहीं हैं, उपाय हैं. हरेक उपदेश दवा है. दवाको खानेकी खुराक नहीं समझना.

११. राजाआसकरणको अंतिम उन्माद अवस्थामें सेव्यस्वरूप श्रीगुसांईजीके घर पधरा देने पड़े. तो प्रश्न खड़ा होता है कि भक्तिमें स्वरूपकी आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि स्वरूपके आधारपर भक्तको प्रभुपर प्रेम और पीछे विरह उत्पन्न होता है. पहलेसे ही स्वरूपको विदा करदो और पीछे कहो कि हम तुम्हारे कारण मरेंगे, तो यह कैसा स्नेह है !

१२. कथामें भी आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक बातें आती हैं. तुम्हारी रुचि किसमें है उससे तुम्हारे मनकी झुकानकी खबर पड़ती है. ज्ञानमार्गीयोंका मन प्रभुकी लीलामें नहीं चौंटा लेकिन उसी बातको वह दूसरी तरीकेसे कहते हैं. उदाहरणार्थ, पूतना अविद्याका स्वरूप है और प्रभु अखण्ड ज्ञान स्वरूप हैं. उन्होंने उसका वध किया.... इस प्रकारकी कथामें उनकी रुचि अधिक होती है. भक्तिमार्गीयको अविद्या अखण्ड बोधकी कथा, श्रीकृष्णने पूतनाको मारा, इन शब्दोंमें अच्छी लगती है.

१३. कथा, प्रवचनमें लोग अनेक कारणोंसे जाते हैं. कोई ज्ञान बटोरनेकेलिये, कोई भावसंचयकेलिये, कोई परिचयसंचयकेलिये, कोई प्रतिष्ठासंचयकेलिये (अनेक बड़े लोग कथामें जाते हैं तो मैं भी जाऊँ) जाते हैं.

१४. श्रीमहाप्रभुजी चेतावनी देते हैं कि जिसका पुष्टिमार्गमें अंगीकार हुवा है उसकी प्रभु लोक वेदमें स्वस्थता नहीं रखते, लोकवेदमें डूबने नहीं देते. इस बातकेलिये सर्व पुष्टि भक्तोंको साक्षी बननेकेलिये कहते हैं. तुम ऐसा मानते हो कि भक्तिसे तुम्हारी दुकान अच्छी चलेगी अथवा तुम्हारा कुटुम्ब बहुत सुखी बनेगा तो तुम भूलकर रहे हो. यह कदाचित तुमको पूरा बरबाद कर दे तो भी भक्ति स्थिर रह सकती है. भाव बढ़ता रहे तो ही प्रभु कपा समझनी.

१५. लोक वेद खोकर भी प्रभु प्राप्तिकी लगन हो तो ही पुष्टिस्थ प्रभुको झकझोरना. जैसे पागल हाथीको छेड़नेके बाद वह अपनी मर्यादा भी तोड़ेगा और तुम्हारी भी तोड़ेगा. उसकी कपा झेलनेकी शक्ति तुममें होनी चाहिये. जिस प्रकारसे दो राजा संधि करनेकेलिये मिलते हैं तब वे अपनी सेना तथा किलेके बाहर किसी तीसरे ही स्थानपर मिलते हैं. वैसे ही तुम



लोकवेदके किलेमें सुरिक्षत रह कर आत्माराम प्रभुको संधि करनेकेलिये आत्मारमणमें से बाहर आनेका आवाहन दोगे तो वह नहीं आयेंगे.

१६. प्रमाण अर्थात् नियमके अनुसार प्रभुका व्यवहार और प्रमेय अर्थात् इन नियमोंमें प्रभु द्वारा दर्शाया हुआ व्युत्क्रम. पुष्टिमें केवल प्रमेय बलसे ही सब कुछ होता है ऐसा नहीं है. कभी कबाद प्रमाणसे भी होता है उसी प्रकार मर्यादामें कभी कबाद प्रमेय बल भी प्रयोगमें आता हुआ दिखता है.

१७. भगवत्सेवाकेलिये भगवत्मंदिरमें रहना तो उत्तम बात नहीं है लेकिन भगवत्सेवाकेलिये अपने घरमें भगवत्स्वरूप पधराने ही चाहियें. इस कारण श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तके अनुसार मंदिर नहीं होने चाहिये, लेकिन श्रीनाथजीने जिद्दसे मंदिर बनवाया. इस अपवादको सुधारनेके लिये प्रभुचरण श्रीगुसांईजीने मंदिरके चारों तरफकी जमीन खरीदकर अपने घरमें नहीं तो गांवमें श्रीनाथजीकी सेवा करी. उसके लिये हालही में सरकारके गलत कायदोंके कारण अपने सिद्धान्त, भाव और परम्परासे विपरीत सार्वजनिक मंदिर ठहरानेमें आये हैं.

१८. शास्त्रमें प्राणप्रतिष्ठाके बारेमें लिखा है कि जिस मूर्तिको कोई शूद्र छूले अथवा खंडित हो जाये तो उसकी पूजा करना पाप है. श्रीमहाप्रभुजीने विचारा कि जो सेवा सम्पूर्ण शास्त्रके आधारपर करनेमें आये तो स्त्री, शूद्रादि सेवा नहीं कर सकेंगे, इसलिये आपने आज्ञा दी **सेवा भावनासे करनी**. इस प्रकार सेवा शास्त्रोक्त होते हुवे भी खाली उसके ऊपर ही निर्भर नहीं है. उदाहरणार्थ रामनवमी, जन्माष्टमी वगैरहके दिन सेवामें वेदमंत्र बोले जाते हैं. शूद्र भले मंत्र न बोले लेकिन पलना तो झुला सकता है. अगर फिरसे प्राण प्रतिष्ठाकी प्रथा अपनायी

जाये तो भाव खंडित हो जाये. इसलिये पुष्ट करना ही रखा. पुष्ट करना अर्थात् भाव स्थापित करना.

१९. श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **शुद्धतम होकर सेवा करो** कितनी स्वच्छताको तुम शुद्धतम मानते हो वह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है. एक वल्लभकुलके महाराज कानमें एक गागर जल डलवायें तब उनको लगता कि मैं अब शुद्ध हुवा. इस प्रकार शुद्धिका माप हरेककेलिये अलग है. तुम्हारी दृष्टिमें सम्पूर्ण शुद्ध होनेका जो माप है उससे कम शुद्धि रखना, अनाचार है. इसलिये अपरस कैसी पालनी ये तुम्हारा सिरदर्द है, प्रभुका नहीं. अपरस अ+परसकी तरह अप+रस भी हो सकता है.

२०. ब्रह्म सर्वत्र है इसलिये मूर्तिमें भी है और सर्व व्यक्तियोंमें भी है ऐसा होते हुए भी सबमें रहे हुवे प्रभुके साथ तुम भावात्मक सम्बन्ध निभा सकोगे? वह अधूरा है. इसकेलिये एक स्वरूपको पसन्द करो कि मैं इस रूपमें प्रभुके साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करूंगा, इस रूपमें मैं इसकी सेवा करूंगा.

लड़का लड़कीकी सगाई होनेके बाद आपसमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है. उसके बाद वह कन्या अथवा स्त्री नहीं रह जाती, लेकिन उसकी पत्नि बन जाती है. उसी प्रकार गुरु शिष्यमें तथा मित्र मित्रमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है. भावकी बहुत ही बारीक सीमा रेखा है. भाव स्थापित होता है तब स्त्री पत्नि बन जाती है, पंडित गुरु बन जाता है और भाव खंडित हुवा तो पत्नि सामान्य स्त्री बन जाती है और गुरु पंडित हो जाता है.

२१. भाव तुम्हारी नजरमें छलकता है. हृदयमें भरे होनेके कारण अमुक व्यक्ति अथवा वस्तुमें नहीं है. शीरी फरहादके

किस्सेमें शीरी काली थी लेकिन फरहादकेलिये तो अप्सरासे भी सुंदर थी. कारण आंखोंमें भाव था. उसी प्रकार बहुतसे श्रीठाकुरजीकी वस्त्रसेवा करते हैं. दूसरेकी दष्टिमें तो यह कपड़ेके टुकड़ेकी सेवा है, इसमें दोष आंखका है. कपड़ेमें श्रीठाकुरजीके दर्शनकेलिये भक्तकी आंख चाहिये. शीरीको सुंदर देखनेकेलिये फरहादकी आंखसे देखना पड़ेगा.

२२. दो प्रकारका कचरा होता है; बुद्धिमें अज्ञानका और हृदयमें रूक्षता अथवा स्वार्थका अथवा अस्नेहका. अच्छा लगे तो एक कचरेको साफ करना चालू करो, दूसरा भी धीरे धीरे निकल जायेगा और प्रभुके बिराजने लायक स्वच्छता आयेगी.

२३. सेवा तुम्हारा केवल कर्तव्य ही नहीं है, बल्कि सेवा तुम्हारा सर्वस्व है.

२४. मूर्तिमें तत्व शिलाका, लेकिन सत्व परमात्माका है. कारण कि प्रभु स्वयं ही पथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचभूत बने हैं.

२५. एक वैष्णवने अपने सेव्य श्रीबालकण्णालालके साथ श्रीगिरिराजजी भी पधरा लिये और कहे कि मुझे श्रीगिरिराजजीमें अधिक वाईब्रेशन लगती है. जो तुम्हारी दष्टिमें तुम्हारी भक्ति करते हुवे वाईब्रेशन ही अधिक अच्छी लगती है तो भक्ति करनेकी फिर जरूरत ही क्या है? भक्ति बढ़ानेके बदले किसी मूर्ति, नदी, पत्थरमें वाईब्रेशन अधिक है तो उसे ढूँढना चाहिये अथवा तो एक वाईब्रेटर ही क्यों नहीं लगवा लेते!

२६. मर्यादामें मूर्ति प्रभुकी प्रतिनिधि है. पुष्टिमें मूर्ति स्वयं ही परमात्मा है. जो तुम्हारे अन्दर स्नेहकी सामर्थ्य है तो जो आनन्द परमात्मा तुमको दे सकता है वही आनन्द मूर्ति भी दे सकती है.

२७. हम मूर्ति नहीं कहते क्यों कि ऐसा कहनेसे भाव खंडित हो जाता है इसलिये हम स्वरूप कहते हैं.

२८. मर्यादामें मूर्तिको प्रभुका प्रतिनिधि मानकर पूजन होता है. अर्थात् रसगुल्ले नहीं मिलते इसलिये चने फांकते हैं. लेकिन पुष्टिमें तो भक्त स्वरूपसेवामें चना नहीं फांकता, रसगुल्ला ही खाता है.

२९. प्रभु बोलते नहीं हैं, उससे भक्त ऐसा नहीं विचारता कि वह मूर्ति है लेकिन वह विचारता है कि प्रभु मान कर रहे हैं, रूठे हुवे हैं मैं उन्हें मनाऊं. भले ही दस बीस वर्ष या जन्म बीत जायें, मैं प्रयत्न नहीं छोडूंगा.

३०. दो व्यक्तियोंमें एक दूसरेके प्रति जब भाव स्थापित होता है तब लोग तो इतना ही जानते हैं कि हमारा उसके साथ घूमना फिरना है और लोगोंको तुम्हारे हृदयके भावोंको जतानेकी क्या जरूरत है? उसी प्रकार श्रीठाकुरजीका और तुम्हारा सम्बन्ध कैसा है उसकी लोगोंको खबर पड़ते ही गड़बड़ हो जाती है. आज भी कितने गोस्वामी बालक अपनी बहुजीयोंको परदेमें रखते हैं. किसीकी दृष्टि बहुजीके बारेमें बिगड़े नहीं उस डरसे. अपनी बहुजी जितनी महत्ता भी जो सेव्य प्रभुके बारेमें स्वीकारी हो तो श्रीठाकुरजीका सार्वजनिक मंदिर नहीं हो सकता; जबकि श्रीठाकुरजी भी तो स्त्रीगूढ़भावात्मक ही हैं.

३१. उद्वेगको स्वीकारते हो तो पापका फल मानकर स्वीकार करनेसे हृदयमें ग्लानी, उदासीनता और हीनताकी भावना होगी. ईश्वर इच्छा माननेसे हृदयमें दीनता आयेगी. ऐसा दीन-हीन व्यक्ति स्नेही नहीं बन सकता, लेकिन उद्वेगको प्रभुलीला समझनेसे हृदयमें भक्तिकी हानि नहीं होगी और ऐसा भक्त ही स्नेहके स्तरपर टिक सकता है.

३२. नाटक देखने जाते हैं तब मन तैयार होता है कि हम कोई लीला देखने जा रहे हैं. नाटक करुण है तो तुम रोओगे, इसके बाबजूद भी बाहर आकर तुम कहोगे कि नाटक अच्छा था. नाटक डरावना है तो तुम भयभीत हो जाओगे, बाबजूद इसके बाहर आकर उसकी तुम बड़ाई करोगे. नाटकको तुम लीला मानते हो इस कारण वह तुमको रुलाये हंसाये डराये तो भी तुम उसकी प्रशंसा करते हो. उसी प्रकार संसारकी सर्व घटनाओंको प्रभुलीला समझनेसे उसकी करुणता, सुंदरता, क्रूरता, भयानकता अथवा नीरसता सबको तुम विलस सकोगे.

३३. अपनेको न देखनेके बाबजूद अंधा व्यक्ति बैटरी रखता है जिससे कि कोई दूसरा व्यक्ति उससे टकरा न जाये. इसी प्रकार अपनी समझमें न आते हुवे भी अष्टाक्षर स्मरणसे कोई विरोधी भाव अथवा आसुरी भाव हृदयसे टकरायेगा नहीं.

३४. ट्रेनमें बैठनेके बाद मैं पहुंचूंगा कि नहीं, ऐसी चिंता करना मूर्खता है. ट्रेनमें बैठनेके बाद भी तुम निश्चिंत नहीं रह पा रहे हो तो कोई तुम्हारी क्या मदद कर सकता है. इसलिये सेवात्मिका भक्ति अथवा शरणागतिके मार्गपर स्थिर रहनेवाले व्यक्तिको चिंता अनावश्यक होती है.

३५. लौकिक अथवा अलौकिक, दोनों कारणोंके लिये चिंता त्याज्य है. अंगीकृत जीवोंका कार्य प्रभु स्वतः करते हैं, ऐसा विश्वास जरूरी है. कभी कभी प्रारब्ध, भोग या परीक्षार्थ फल देनेमें विलम्ब करते हैं.

३६. प्रभु परीक्षा भी क्रीडा भावसे करते हैं; नहीं तो क्या उन्हें खबर नहीं है कि हम कितने पानीमें हैं ?

जिस प्रकार गुनहगारको सजा देनेमें पुलिस अथवा जजको उसके प्रति कोई द्वेष भाव नहीं होता लेकिन केवल कानूनके वश होकर सजा देते हैं, उसी प्रकार हम प्रभुकी सृष्टिमें

कर्मोंका फल भोगते हैं लेकिन उस भोगनेकी अवस्थामें उद्विग्न नहीं होना चाहिये. कारण एक शायर कहता है मैं खुश हूँ ऐ नसीम मुझे कोई गम नहीं. मेरी तबाहियोंमें भी यारोंका हाथ है. कर्मसे बढ़कर घनिष्ठ अपना मित्र कौन हो सकता है कि जो देह छोड़नेके बाद भी अपना साथ नहीं छोड़ता.

३७. चिंता भगवदर्थ भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रभु जितनी सेवा अपनेसे लेना चाहते हैं उतनी अनुकूलता वह स्वयं कर देगे और उतना ही भाव प्रदान करेंगे.

देश कालकी परिस्थितिसे क्या प्रभु अनजान हैं? जब चीनीकी राशनिंग हो तब छप्पन भोग आरोगानेकी बात करोगे तो चिंता तो उपस्थित होगी ही. परन्तु हमको ऐसा समझना चाहिये कि जितनी चीनी हमारे पास है, उतनी चीनीकी ही सामिग्री प्रभु मांग रहे हैं. तो विचारना चाहिये कि हम जो सामिग्री धर रहे हैं उसकी महिमा कितनी है कि प्रभु उसे हमारे पाससे मांग रहे हैं. इसलिये किसी भी अफसोसके साथ कोई भी सामिग्री नहीं धरनी कारण कि चिंतासे भाव रूखा हो जायेगा, हृदयमें कठोरता, क्लिष्टता आयेगी, पीछे जो करोगे वह सेवा नहीं है परन्तु अपने हठसेकी हुई एक क्रिया मात्र है.

३८. अगर सेवामें निरंतर उद्वेग रहता हो, घरमें सदा क्लेश ही रहता हो तो सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवामें जो मन प्रफुल्लित न रहे तो वह सेवा सेवा नहीं है, केवल कर्मकाण्ड है.

३९. श्रीमहाप्रभुजी ऐसा तो नहीं कहते कि सुख दुःखकी संवेदनाके प्रति तुम जड़ बन जाओ. परन्तु आज्ञा करते हैं कि दोनों संवेदनाओंको चिंतामुक्त हो कर भोगो.

४०. अगर सेवाके बाद भी कुटुम्बासक्ति रहती है तो भी चिंता नहीं करनी, कारण वह भी प्रभु की क्रीड़ा है. कदाचित

अगले जन्ममें गुणासक्ति और उसके बाद स्वरूपासक्ति हो, ऐसे क्रमसे आगे बढ़ेंगे.

४१. जब महापुरुष (श्रीमहाप्रभुजी) द्वारा अपना निवेदन प्रभुके प्रति हुवा है तो वह हमारी लौकिक गति नहीं करेंगे, हम उनके हैं ऐसे निश्चित विचार रखनेसे उत्साह, धीरज यथास्थित रहता है.

४२. भगवदानुरक्तिके कारण जो विषयमें वैराग्य आये तो वह पुष्टि वैराग्य है और विषयमें वैराग्य होनेसे भगवदानुरक्ति उत्पन्न करें तो वह मर्यादा वैराग्यजनित मर्यादाभक्ति है.

४३. चिंता होती है इसलिये कि जिसे हमने आत्मनिवेदन किया है उसके बलपर भरोसा नहीं है. जैसे कन्यादान किया हो पर जमाईपर भरोसा न हो कि कन्यादानमें दिया हुवा द्रव्य खा तो नहीं जायेगा!

४४. जो वस्तु शास्त्रोक्त हो, लौकिकमें उत्तम हो, अपनेको भी अच्छी लगती हो, वह वस्तु प्रभुको अवश्य अंगीकार करानी. लेकिन इनमेंसे एक भी वस्तुकी कमी हो तो विवेकका प्रयोग करना चाहिये.

४५. प्रभुके काल, कर्म और स्वभावके नियामक होनेके कारण कालादि द्वारा किये गये प्रतिबंधको प्रभुकी इच्छा ही समझना चाहिये. ब्रिटेनके महान तत्वचिंतक बर्ट्रान्ड रसेलके अनुसार प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति भगवानपर दो आरोप लगाता है: वह सर्वज्ञ नहीं है और उसकी योजनामें कुछ कमी है जो इस बारेमें ध्यान देकर सुधार लेगा. प्रभु अपनी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसमें अगर दुख भी मिले तो उसे सहन कर लेना चाहिये, लेकिन प्रभुपर अविश्वास प्रकट नहीं करना चाहिये. दुःख अनुभव करानेवाले भी प्रभु हैं. इसलिये प्रार्थनाकी आवश्यकता नहीं है.

४६. शिक्षापत्रमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि शुद्धाद्वैतियोंका संग भी कभी बाधक होता है. इसमें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तका खंडन नहीं है. लेकिन केवल ऐसे विचार जो भक्तिको खंडित करते हों तो वे ही बाधक हैं. उदाहरणके तौरपर भोग धरनेवाला ब्रह्म है भोग आरोगानेवाला ब्रह्म है और धरनेमें आती हुई सामिग्री भी ब्रह्म है; ऐसे ज्ञानसे जो भक्तिभाव टूट जाये तो वैसा शुद्धाद्वैत ज्ञान बाधक है.

४७. प्रभु केवल परमेश्वर ही नहीं हैं. परमात्मा भी हैं. केवल आत्मा ही नहीं, ईश्वर भी हैं. इसलिये भक्तिमें प्रेम और दीनता दोनों जरूरी हैं. जिस प्रकार नट रस्सीपर चलते समय बांससे दाएं बायेंका संतुलन बनाता है; उसी प्रकार भक्तिकी रस्सीपर चलते समय अतिशय स्नेहके वश होकर उद्धत नहीं बन जाना चाहिये अथवा तो अतिशय दैन्यवश निःस्नेह भी नहीं बन जाना चाहिये. उसके लिये भजनीय भगवानको परमेश्वर भी और परमात्मा भी मानना चाहिये.

४८. श्रीद्वारिकाधीशजीके घरके एक बालकने काशीमें पंडित होनेकी इच्छासे किसीकी सलाहपर जीभपर सरस्वती मंत्र लिखवाया और पीछे घर लौटे. तब श्रीद्वारिकाधीशजीकी आज्ञासे उनके पिताश्रीने इकलौते पुत्रका त्याग किया. उस प्रसंगसे ऐसा नहीं समझना कि हरेकको मूर्ख ही रहना, अथवा पंडित होना कोई दोष है, लेकिन इसको ऐसे समझना कि पंडित होना यह ईश्वरका वरदान है और पंडित न होना यह ईश्वरेच्छा है. इसलिये उसके लिये अन्याश्रय नहीं करना. इसमें देखनेकी बात है कि जिस व्यक्तिके अन्याश्रयसे प्रभुको बुरा लगे वह व्यक्ति प्रभुको कितना आत्मीय लगता होगा. घरवालोंकी गाली और बाहरवालोंकी गाली, दोनोंसे अपने ऊपर होते असरमें कितना अंतर है? श्रीद्वारिकाधीशजीने उसे घर वालोंकी गाली गिना.



जब अपना अन्याश्रय प्रभुको बुरा नहीं लगता तो अपना उनका कैसा सम्बन्ध?

४९. षोडशग्रंथका तात्पर्य मात्र एक ही है और वह है सेवा. बहुत बार सेवा छोड़नेका विधान भी भगवदसेवाकेलिये ही होता है. उदाहरणार्थ किसी डाक्टरकी चिकित्सा अथवा दवाई तुम्हें माफिक नहीं आ रही है और कुछ गलत असर कर रही है तो उसे छोड़नेमें अपना और डाक्टर दोनोंका हित है.

५०. अपने समर्पणके साथ परिवारके प्रत्येक सदस्यका भी समर्पण होता है; परन्तु उन लोगोंका खुदका अहंकार भी तो है. इसलिये उसका समर्पण तो उनके खुदके ब्रह्मसम्बन्ध द्वारा ही होगा. पुत्रादिक सेवामें उपयोगी न हों तो चिंता नहीं करनी. प्रभुको समर्पित करनेके बाद प्रभुकी इच्छा होगी तब उसका उपयोग करेंगे..

५१. जिस प्रकार किसीको दस पुस्तक पढ़नेकेलिये कहा जाय. बादमें कौनसी पुस्तक पढ़नी, कब पढ़नी या नहीं पढ़नी, यह उसकी जबाबदारी है अपनी नहीं और ऐसी दखलअन्दाजी पढ़नेवालेको भी पसंद नहीं आयेगी.

५२. मैंने ब्रह्मसम्बन्ध पहले लिया है और मैंने सब कुछ समर्पित किया है ऐसा अहंकार नहीं रखना. कारण कि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवाला और उसके परिवारके सब जनोंके साथ प्रभुका सम्बन्ध बराबर है. प्रथम ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेका अधिक महत्व नहीं मानना. बहुत बार ऐसा होता है कि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद उसके परिवारके किसी अन्य सदस्यमें भाव अधिक दिखाई देता है. तुम्हारे ब्रह्मसम्बन्धके कारण दूसरेको भाव दान हो सकता है. लेकिन यह अपवाद है. दो शब्दोंमें ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवाले व्यक्तिकी तुलनामें उसके द्वारा समर्पित किये गये कुटुम्बका प्रभुके साथ गौण संबंध नहीं होता;

इस कारण ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेको कभी अभिमान नहीं रखना.

५३. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद तुम्हारेसे सेवा किस रीतिसे लेनी यह प्रभुकी इच्छा है. बहुत बार स्त्रीपुत्रादिककी ही सेवा लेते हैं. कई बार प्रभु अपनेसे सेवा लेते हैं. कई बार अपने भक्तोंकी सेवा कराते हैं. कुटुम्ब ही की सेवा करने पड़े तो प्रभु इच्छा समझकर चिंता नहीं करनी लेकिन मनमें बढ़ोत्तरीकी इच्छा रखनी कि कब प्रभु हमसे ऊंची सेवा करायेगे.

५४. वैभव ज्ञान अपरस वगैरह उत्तम वस्तु हैं. इन उत्तम वस्तुओंका प्रभुमें विनियोग उत्तम माननेमें आता है, लेकिन अनिवार्य नहीं. इसलिये वैभव हो तो प्रभुकी सेवा वैभवसे करनी, लेकिन वैभव न हो तो भी सेवा छूटनी नहीं चाहिये. उसी प्रकार ज्ञानी भी सेवाकर सकता है, मूर्ख भी कर सकता है. अपरस बहुत सुंदर वस्तु है. उसका विनियोग भी प्रभु सेवामें करना उत्तम बात है परन्तु पूरी अपरस पलती नहीं है इसलिये सेवा छोड़ देनी यह अयोग्य है. इस प्रकार सेवाकर्ताके धनका वैभव, ज्ञानका वैभव और अपरसका वैभव सबके विनियोग करनेकी छूट है, लेकिन सेवाकेलिये यह सब अनिवार्य हैं ऐसी आज्ञा नहीं है.

५५. योगीकी लगती हुई समाधिमें कुछ आश्चर्य नहीं है. शरीरके क्रिया कलापोंको बंद करके समाधि लेना एक क्रिया सिद्धि है. ऐसे तो मेंढक इत्यादि भी मिट्टीमें घुसकर समाधि जैसी स्थिति धारण करते हैं; जिसे **हायबरनेशन** कहते हैं. इसलिये मेंढकके दर्शन करने जानेकी जरूरत नहीं है. महत्ता समाधिकी नहीं लेकिन परमात्म विषयक समाधिकी है.

५६. प्राचीन कालमें भिक्षुककी गरिमा थी. वे भिक्षा लेकर देने वालेपर उपकार करते थे. और भिक्षुकको खाना खिलाकर खाना ऐसा जिनका नियम रहता था वे लोग गांवके बाहर भिक्षुकको ढूंढनेकेलिये खड़े रहते थे. अब तो सब कुछ बदल गया है.

५७. जितनी तुमसे सेवा लेनी है उतनी सेवा लेनेमें प्रभु समर्थ हैं.

५८. तुम्हारा भटकनेका स्वभाव है. प्रभुका रोकनेका स्वभाव है.

५९. श्रीगुसांईजीने विज्ञप्तीमें कहा है: यह जीव आपकी तुलनामें कितना छोटा है. वह अगर आपको खुश करनेकेलिये कुछ करे तो भी कितना करे. ऐसे जीवकी कतिकी आप अपेक्षा रखो यह संभव नहीं है.

६०. श्रीमुरलीधरजी (काशीवाले) महाराजसे पूछा गया कि अगर सेवामें मन न लगे तो कथा कर सकते हैं? उन्होंने जबाब दिया ' जहां सिंगार, सामिग्री आदि कितने मौजूद हैं उनमें तेरो चित्त नहीं लग्यो तो कथामें कहाँते लगेगो?'

६१. श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजसे पूछा गया मूर्तिमें तो आवाहन करना पड़ता है और शालिग्राममें तो नित्य संनिधान है और श्रीगिरिराजजीमें भी. तो श्रीगिरिराज और शालिग्रामकी सेवा ज्यादा अच्छी नहीं? उन्होंने कहा: मूर्ति जिसमें तुम आंख, नाक, कान आदिका दर्शन कर सकते हो, सुन्दर सिंगार करके उनकी सुन्दरता और उनके भाव देख सकते हो, ऐसी मूर्तिमें तुम्हें क्यों दोष नजर आता है? शालिग्राममें तो ऐसा कोई आनन्द नहीं मिलेगा.

६२. पुष्टिपुरुषोत्तम श्री युक्त हैं जो अपनी शोभासे तुम्हें जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेते हैं. रत्नाकरका पद है:

न चली कछु लालची लोचनकी हठ मोचनके चहनो ही पर्यो. रत्नाकर बंक विलोकनी बान सहाय बिना सहनो ही पर्यो. इतते वे गात छुवाय चले तब तो प्रण को ढहनो ही पर्यो. भरी आई कराह सुनोजी सुनो नंदलाल सों यों कहनो ही पर्यो.

प्रभु जब कपा करते हैं तो पहल वह ही करते हैं. तब उनको चाहना तुम्हारे बसकी बात नहीं रह जाती. ये तुम्हारे तन मनको जबरदस्ती छीनकर तुमको असहाय कर देते हैं. इस कारण ही रत्नाकर कहता है: न चली कछु लालची लोचनकी हठ मोचनके चहनो ही पर्यो.

६३. सेवा अर्थात् जिससे प्रभुको सुख दिया जा सके वह. न कि अपने अहंकार पोषण अथवा अपनी कर्तव्य भावना पोषणकेलिये की गई सेवा. सेवामें आत्म विकासके बदले प्रभुसुखका ध्येय होना चाहिये. वार्ता प्रसंगमें आता है कि श्रीगुसांईजीका सेवक बहुत नाम जप करता था तो भी आप उससे बोलते नहीं थे. लेकिन जब उसने एक बार श्रीगिरिराजजीके रास्तेमें कांकर पत्थर साफ किये ऐसी भावनासे कि श्रीठाकुरजीके चरणमें चुभे नहीं तब ही श्रीगुसांईजी उससे चलाकर बोले. कारण पूछनेपर बताया कि आज तक तेरा आत्मविकासकी ओर ध्यान था. आज प्रभु सुखका विचार किया.

जब घरमें आग लगे तब तुम तुम्हारे बालकको भूलकर अपने आप बचने दौड़ते हो. इसमें तुम अपने आपको बचा रहे हो. बादमें फिर बच्चेके लिये रोओ मत. परन्तु आग लगे तब जो तुम अपने बचनेकी परवाह किये बिना बालकको बचानेका प्रयत्न करते हो तो इसमें प्रेमकी प्रधानता है. उसी प्रकार संसारकी अग्निमें तुमको आत्मोद्धारकी चिंता हो तो तुम प्रभुको

भूल जाओगे. और प्रभुको मिलना हो तो आत्मोद्धारकी चिंताको मुलतवी करो. कारण कि श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि तुम्हारा उद्धार संसारसे छूटनेमें नहीं लेकिन भक्तिमें है. हो सकता है कि भक्तिसे तुम्हारा आत्मोद्धार न भी हो. आत्मोद्धार अर्थात् संसारमें अहंता ममतासे मुक्ति. प्रभुके साथ प्रेमका, भक्तिका संबंध बांधना मांगते हो तो मुख्यता प्रभुसुखकी, प्रभु प्रेमकी होनी चाहिये, आत्मोद्धारकी नहीं.

६४. माहात्म्यज्ञानके साथ स्नेह वह ही भक्ति है. माहात्म्यज्ञान बगैर भक्ति वह स्नेह है.

६५. भक्तिमें जीव ट्रस्टी होता है. प्रभु लाभ लेनेवाले हैं. पुष्टिमें प्रभु ट्रस्टी हैं और जीव लाभ लेनेवाला. ऐसी होती है पुष्टिभक्ति!! ट्रस्टी हिसाब किताब रखता है. लाभ नहीं लेता, नहीं तो विश्वासघात कहलाता है.

६६. श्रीगुसांईजीने एक खानेपीनेके शौकीन व्यक्तिको ब्रह्मसम्बन्ध दिया लेकिन दूसरे एक व्यक्तिको, जिसको तीव्र वैराग्य था उसको ब्रह्मसम्बन्ध नहीं दिया. तात्पर्य यह है कि लौकिक रसको अलौकिक रसमें बदला जा सकता है. परन्तु रसहीन रूखे व्यक्तिको अलौकिक रसमें डुबो नहीं सकते.

६७. पहले क्रोध आनेपर छू जाते थे. लेकिन अब कौन विचार करता है. कारण कि सेवामें प्रभुसुखका विचार नहीं है लेकिन कर्तव्यका ही विचार है.

सेवामें भी भावनाका फरक पड़ता है. (१) प्रभुसुखमें अपना सुख मानना. (२) अपनेको सुख मिलता है इसलिये सेवा करनी. उदाहरणार्थ (क) दानवीर कहलानेके लिये दान करना. सुख लेनेकेलिये सुख देनेकी प्रवृत्ति. (ख) किसीको सुख मिले इसलिये दान करना = दूसरेके सुखमें सुख लेनेकी वृत्ति.

६८. कुछ स्नेहजनित चिंताएं ऐसी होती हैं कि जो हटाई नहीं जा सकती. कारण कि दिल आखिरमें दिल ही तो है. वह संवेदनशील तंतुओंसे बना है ईंट पत्थरसे नहीं. हृदय थोड़ा दुखित हो तो कोई दिक्कत नहीं लेकिन फुन्सीको खुजा खुजा कर फोड़ा तो नहीं बना लेना चाहिये.

६९. चैतन्य सम्प्रदायके श्रीरूपगोस्वामीका एक सुंदर लेख इस प्रकार है: ज्ञान वैराग्यकी कोई उपयोगिता है तो वह केवल इतनी ही कि तुमको भक्तिकी तरफ प्रेरित करते हैं. वह भक्तिमार्गपर चला नहीं सकते. ज्ञानवैराग्य सिगनल जैसे हैं चक्के जैसे नहीं और उनकी जरूरत केवल शुरुआतमें है. वह भक्तिके अंग नहीं बन सकते.

७०. जितना ज्ञान वैराग्य अधिक उतना ही अधिक चित्त कठोर बनेगा. जिस प्रकार स्नेही अथवा आत्मीयकी मत्थुका दुख निवारण करनेकेलिये मनको ज्ञानकी बातें समझानी पड़ती हैं कि हरेक व्यक्तिको मरना ही है. यह संसार मिथ्या है, असार है..... ऐसे विचारोंसे आर्द्र मन कठिन हो जायेगा और दुःख सह सकेगा.

७१. कठोर व्यक्तिसे भक्ति नहीं हो सकती. भक्ति एक सुकुमार पुष्प जैसी है. इसे कोमलतासे पकड़ना होगा नहीं तो इसकी पंखुडी झड़ जायेगी. इस कारण ही ज्ञानवैराग्यसे कठोर बना हुवा चित्त भक्ति नहीं कर सकता. ज्ञानवैराग्य तो आध्यात्मिक-आधिदैविक उपवनके मार्गपर लगे दिशा चिन्ह हैं. उनसे चिपके नहीं रहना. आगे बढ़ कर सुरम्य उपवन तक पहुंच जाना चाहिये.

७२. भक्त ज्ञान प्राप्त करके भी अज्ञान साथमें रखता है. प्रभुको सुलाने, खिलानेकी क्या आवश्यकता है? वगैरह ज्ञान

भक्तिमें काम नहीं आते. स्नेह प्राप्त करनेकेलिये कहीं तो माहात्म्य ज्ञानको भूलना पड़ेगा.

७३. कभी तो प्रभु चित्तमें आनन्द पैदा करके लीला करते हैं. कभी उद्वेग पैदा करके लीला करते हैं. उद्वेगको प्रभुलीला मानोगे तो प्रभुके गुणमें आदर होगा और भक्ति प्रकट होगी. लेकिन उद्वेगमें यह सब मिथ्या है ऐसा माननेपर ज्ञान प्रकट होगा, भक्ति प्रकट नहीं होगी. अर्थात् लीला मानकर चिंताके ऊपर काबू पाना, माया मानकर नहीं, तो ही भाव टिकेगा.

७४. नवरत्नमें चिंता दूर करनेके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं. कुछ चिंता, प्रभु सर्वेश्वर हैं ऐसा माननेसे, कोई चिंता प्रभु सर्वात्मा हैं ऐसा माननेसे, कोई चिंता प्रभुलीला समझनेसे और कुछ चिंता ब्रह्मसम्बन्ध किया है अब क्या चिंता ऐसा विचारनेसे दूर होती है.

७५. सेवा ब्रह्मसम्बन्धदाता और सेव्यस्वरूपदाता गुरुसे पूछकर ही करनी चाहिये. अलग अलग बल्लभकुलके बालकोंसे पूछकर करनेसे और अलग अलग भगवदीयोंके मतोंको इकट्ठा करनेपर तो बहुत गड़बड़ हो जाती है.

७६. अपनी सेवाका प्रदर्शन दूसरे अभगवदीयोंको कराना नहीं. प्रभुको तुम कैसा लाड लडाते हो यह दुनियाको दिखानेकी जरूरत नहीं है. बारात गांवकी गलियोंमें फिरे तो कोई बात नहीं लेकिन वर वधू गांवकी गलियोंमें फिरते फिरते प्रणय प्रसंग करें तो वह प्रणयका भौंडा प्रदर्शन है.

००००००००००

## भक्तिवर्धिनी

१. श्री हरिरायजीने कहा है कि भक्तके हृदयमें रहा

हुआ भाव भगवत् प्रेम भगवत् रूप है. इसलिये प्रभु स्थायी भावात्मक हैं और स्थायीभाव रसात्मक होनेके कारण अपने आधारपात्र अर्थात् हृदयके बाहर रह नहीं सकता. आप आगे कहते हैं कि हृदयका भाव ये लोकवेदातीतपुरुषोत्तम है जबकि हृदयके बाहर रहा हुआ भगवत्स्वरूप लोकवेदप्रसिद्धपुरुषोत्तम है. इसमें जानने योग्य यह है कि आलम्बन विभाव और स्थायी भाव, इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन? वह कहा नहीं जा सकता. कारण, कौन किसे महत्ता देता है उसपर न्यूनाधिकपनेका आधार रहता है. वास्तवमें बाहर रहा हुआ आलम्बन विभाव (उदाहरण के लिये- बल्ब) ही हृदयमें स्थायी भावके (उदाहरणके लिये - प्रकाश) रूपमें प्रगट होता है, इसलिये दोनों अभिन्न हैं.

२. कमरेमें अंधेरा हो तब उसमें रहा हुआ आसन, पुस्तक, सोफा इत्यादि एकका भी रंग नहीं दिखता है. परंतु बत्ती जलानेपर प्रत्येक वस्तुका अलग अलग रंग दिखने लगता है. इस रंग दिखनेका कारण प्रकाश और उस वस्तुके खुदके रंग इन दोनोंका संयोजन है.

प्रश्न: प्रभु सबको सुंदर क्यों नहीं लगते? उत्तर: केवल वस्तुके स्वभावसे महानता नहीं आती अथवा केवल हृदयकी भावनासे महानता नहीं आती, लेकिन दोनोंके संयोजनके कारण महानता आती है.

३. भक्ति यह केवल मनोवृत्ति नहीं है; लेकिन भक्ति एक स्वतंत्र रस है. मनोवृत्ति स्थायी अथवा अस्थायी भी हो सकती है, रस नहीं. कारण कि स्थायी मनोवृत्ति ही रस है. कारण ज्ञान अथवा मुक्ति मिलनेके बाद भक्ति संचारी बन जाती है.

जो नाट्यकार भक्तिको केवल मनोभाव मानते हैं उसका कारण ये है कि उनका भक्तिरसके साथ स्नान सूतकका भी



संबंध नहीं है। चैतन्यसम्प्रदाय, अपना सम्प्रदाय और शंकराचार्यजीके मार्गके मधुसूदन सरस्वती वगैरह भक्तिको स्वतन्त्र रस मानते हैं।

४. जिस तरह रस प्रकट होता है अथवा जिस आलम्बन, उद्दीपन अथवा संचारी भावसे रस प्रकट होता है; उसी क्षण वह शृंगाररस, हास्यरस अथवा करुणरसकी झलक दिखायेगा पर आखिरमें आनन्द- आनन्द ही है। ब्रह्मानन्द न तो शृंगार, न तो हास्य या न तो करुण रस है; पर जब वह लोकमें क्षुद्र अंश रूपमें प्रकट होता है तब वह शृंगार, वीर, हास्य वगैरहका रंगलिये हुये होता है। आखिरमें तो वह एक आनन्द अथवा रस ही है।

५. गुप्तानंदा यतो जीव निरानंदम् जगद्यतः ।

पूर्णानंदो हरिस्तस्मात् सेव्यः सर्वे सुखार्थिभिः ।।

यह सष्टि जिस रीतिसे प्रकट हुई है उस रीतिसे जीवमें आनन्द कुछ अंशमें गुप्त है। जबकि जगतमें आनंद पूरी तरह छिप गया है। परन्तु हरि तो पूर्णानंद हैं। इसलिये जिसे सुख चाहिये उसके लिये हरि ही सेवनीय हैं। आनन्दकी अनुभूति जड़में नहीं होती कारण कि जड़में चेतन तिरोहित है। इसलिये चेतनके भीतर रहा हुआ आनंद तो प्रकट रीतिके साथ ही तिरोहित हुआ है पर जीवमें आनन्द स्वरूपतः तिरोहित है, धर्मतः नहीं।

६. श्रीमहाप्रभुजी कहना चाहते हैं कि जिस तरह लकड़ीमें अग्नि तिरोहित है उसी भांति जीवमें आनंद तिरोहित है। जब बाहर स्थित अग्नि लकड़ीके सम्पर्कमें आती है तब अंतर्स्थित अग्नि प्रज्वलित होती है, बादमें सब लकड़ी अग्निमय हो जाती है। (पत्थरमें अग्नि तिरोहित न होनेके कारण अग्नि उसे जला नहीं सकती) भीतर स्थित अग्नि ही बाहर आती है और

लकड़ीको जलाती है. परन्तु किस रूपमें? स्थायीभावके रूपमें. उसी भांति आलम्बनविभाव रूप श्रीकण्ण जब जीवके सम्पर्कमें आते हैं तब उनका गुप्तानंद प्रकट होता है और जीवको आनंदमय बनाता है. लकड़ी सुलगनेके बाद लकड़ी नहीं कहलाती, अग्नि ही कहलाती है. उसी प्रकार जीवका गुप्तानंद जब प्रकट होता है तब वह केवल जीव नहीं रह जाता लेकिन आनंदरूप भी बन जाता है.

७. किरातार्जुनियम् काव्यमें भीमसे युधिष्ठिरने कहा कि तुम भीगी लकड़ी जैसे हो इसलिये दुष्ट दुर्योधन तुम्हारे ऊपर पैर रखता है लेकिन तुम अपने अंदरकी क्षात्र अग्नि पैदा करो और फिर देखो कौन तुम्हारे ऊपर पैर धरता है? उसी प्रकार माया अथवा संसारका पैर तुम्हारी आत्मापर कब तक? जब तक तुम्हारी आत्मामें आनंदाग्नि प्रज्वलित नहीं हुई तब तक सुलगती लकड़ीपर कौन पैर रख सकता है?

८. एक जीवात्मारूपी लकड़ी भगवद्भावकी आनंदाग्निसे सुलगती हो तब तक उसे स्थायी भाव कहेंगे पर जब लकड़ीके परिणामस्वरूप आसपास सब कुछ जलने लगे तत्पश्चात् उसे सर्वात्मभाव कहेंगे.

९. लौकिक अलौकिक दोनोंमें अंतर ये है कि लौकिकमें कोई वस्तु स्थायी नहीं होती. दूसरे लौकिकमें आलम्बनविभाव और स्थायीभाव एक नहीं हो सकते. लौकिकमें आलम्बनविभाव हृदयके भीतर नहीं जा सकता परन्तु अलौकिकमें आलम्बनविभाव रूप प्रभु हृदयके भीतर भक्तिके रूपमें प्रविष्ट हो सकते हैं.

दिल के आइनेमें है तस्वीरे यार.  
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली.

लौकिकमें जब कहते हैं कि मैंने किसीको देखा और उसकी तस्वीर मेरे हृदयमें समा गई तो लौकिकमें यारकी तस्वीर हृदयमें आ सकती है परन्तु यार खुद नहीं आ सकता. परन्तु प्रभु तो हृदयमें साक्षात् प्रकट होते हैं. कारण धर्म और धर्मी दोनों रूप आप ही हैं, प्रकाश और सूर्यकी तरह. स्नेह, प्रकाश स्थानीय है और प्रभु, सूर्यस्थानीय हैं.

१०. अंदरका भक्ति रसात्मक स्थायीभाव यह हृदयकी सामर्थ्यसे प्रकट नहीं होता परन्तु प्रभु द्वारा प्रकट होता है. ब्रह्मानंद स्वतः सिद्ध नहीं होता, लेकिन अंदर आ रहा है, और आनेका कारण? हृदयकी पात्रता. हृदयकी रस झेलनेकी पात्रताके कारण आता है लेकिन हृदयकी सामर्थ्यके आधारपर रस प्रकट नहीं होता.

११. हृदय एक दीपक है. बीजभाव उसमें रहा हुआ तेल है. ज्योति यह स्थायी भाव है. उद्दीपन यह बाहरकी कोई ज्वाला है. उद्दीपन, आलम्बन ये बाहरके दीपक हैं. दीपक ही दीपकको जलाता है. जलता तो तेल है बत्ती नहीं, बत्ती तो एक इशारा है. बीजभाव ही दीप शिखा बनता है.

१२. जैसे तेल अधिक होता है तो ज्योति अधिक प्रज्वलित होती है. वैसे ही जितना अनुग्रह अधिक उतनी ही अधिक भक्ति होती है.

१३. अपने अन्दर ज्योति जलानेवाली जो बाहरकी ज्वाला है वे बहुत सी हो सकती हैं. प्रभुकी अपरोक्षलीला, प्रभुका स्वरूप, प्रभुका गुण, शास्त्र, गुरु, भगवदीयका संग, संसारप्रति अनासक्ति.... इनमें से किसी भी वस्तुकी मददसे भीतरकी ज्वाला प्रकट हो सकती है.

१४. बहुत बार लौकिकासक्ति दूर होनेसे भगवानमें अनन्यासक्ति प्रकट हो जाती है. नंददासजी, रसखानजी,

बिल्वमंगल इसके उदाहरण हैं। ये पात्र तैयार थे रस झेलनेकेलिये, जो कुछ दूरी थी वह अन्यासक्तिके कारण ही थी।

१५. प्रभु अग्नि हैं, उनकी उष्णता अनुग्रह है। प्रभु जितने समीप आते जाते हैं अथवा जीव जितना प्रभुके निकट जाता जाता है उतनी ही उनकी उष्णता अधिक अनुभवमें आती है और आखिरमें उष्णता इतनी बढ़ जाती है कि जीव प्रेमाग्निसे सुलग उठता है।

१६. हृदय एक पात्र है। उसमें अनुग्रहकी वर्षा हो रही है। बरसती है तब तक अनुग्रह है परन्तु नदी या तालाब रूपी पात्रमें जब छलकती और बहती है तब भक्ति बन जाती है।

१७. विप्रयोग स्थायीभाव प्रकट होनेसे पहले भी प्रकट हो सकता है और बादमें भी। विप्रयोग यह स्नेहका थर्मामीटर है। वह साधना नहीं लेकिन सिद्धि है। विप्रयोग होता हो यह बहुत ऊंची अवस्था है। लेकिन यह तापक्लेशका मार्ग है इसलिये मुँहको रुआंसा करके घूमनेकी जरूरत नहीं है। विप्रयोग किया नहीं जाता, हो जाता है।

१८. सच्चे भक्तको सेव्यकी चिंता होनी चाहिये, स्नेहकी नहीं। स्नेहकी चिंता बताती है कि भक्तके मनमें कुछ इच्छायें हैं, व्यापारिक बुद्धि है।

१९. श्रीठाकुरजीकी सेवा छोड़कर बहुत लोग विप्रयोग करते हैं। यह विप्रयोग नहीं है। एक तो पतिको धक्का मारकर बाहर निकाल दो, पीछेसे कहो कि मैं तुम्हारेलिये विप्रयोग करूंगी। यह स्नेह नहीं, स्नेहका दिखावा है।

२०. बहुत लोग कहते हैं कि प्रभुकपा प्राप्त करनेकेलिये भक्ति यह पुष्टि भक्ति है, परन्तु यह गलत बात है। पुष्टिभक्ति अर्थात् प्रभुकपासे प्राप्त होती भक्ति।

२१. विप्रयोग केवल अनुभूति नहीं है अथवा केवल वस्तुस्थिति भी नहीं है. व्युच्चरणके बाद जो दूरी हुई है उसे दूरी मानें तो ही विप्रयोग होगा. ज्ञानी बन जाओ तो वह दूरी भी दूरी रह नहीं जाती.

२२. दूरी अनुभव होनेका कारण फासला नहीं है परन्तु तुम्हें किसी स्थानपर कितनी जल्दी अथवा देरमें पहुँचना है, उसके ऊपर आधारित है. पहुँचनेकी जैसे गति बढ़ती है वैसे अंतर ज्यादा लगता है. कहीं जल्दी पहुँचनेकी कोई उतावली नहीं होती तो दूरी भी दूरी नहीं लगती कारण कि मनका भाव ठंडा पड़ जाता है.

२३. ताप सद्द है परन्तु क्लेश असद्द है. उसमें परेशानीका भाव है. ताप क्लेशके कारण जब प्रभुमें तन्मयता हो जाय तब तो तन्मयताके कारण उसमें आनन्दकी अनुभूति होती है. तन्मयताके अभाव में तापक्लेश दुःखात्मक लगता है.

२४. प्रभुके विप्रयोगमें दो प्रकारकी अनुभूति होती है. बाहोश (अतन्मय) हो तब दुःखात्मक अनुभूति होती है और बेहोश (तन्मय) हो तब सुखात्मक अनुभूति होती है. तापक्लेश पहले होता है और साधन दशामें होता है और आनन्द फलदशामें होता है.

२५. भक्तिशास्त्र, दर्शनशास्त्र और रसशास्त्रके बीचमें अवस्थित है. वह दोनोंके सम्मिश्रणसे खिलता है. भक्तिशास्त्र जीवनमें परमात्माकी रसात्मक प्रतिष्ठा करना मांगता है. इसीलिये कीर्तनमें कहा है कि जो पै श्रीवल्लभ प्रकट न होते. भूतल भूषण विष्णुस्वामी पथ शंगार शास्त्र सब रोते... ऋषियोंने कोई ऐसी बात करी ही नहीं है कि जिसकी कोई अहम् भूमिका न हो.

२६ भक्तिकेलिये घर छोड़नेकी छूट है, आज्ञा नहीं. जिस मरीजको थोड़ी बीमारी है, उसको डाक्टर सलाह देता है कि अमुक परहेज रखोगे तो दवाके बगैर भी ठीक हो जाओगे (दवा न लेनेकी छूट है), जबकि अधिक बीमारीके मरीजको डाक्टर दवा लेनेकी सलाह देता है. उसी प्रकार दढ़ बीज भाववाला घर छोड़ता है और श्रवण कीर्तन करता है तो भी भक्ति बढ़ेगी. अदढ़ बीजभाव वालेकेलिये श्रवण कीर्तन ही पर्याप्त नहीं है, उसकी कोमल पंखुड़ियोंकी रक्षाकेलिये घर रूपी बाड़ जरूरी है.

२७. प्रश्न: सानिध्यसुख और तत्सुख दोनों अलग हैं क्या? उत्तर: श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि प्रारम्भमें भोग्य बनकर चलो, भोक्ता पीछे बनना. तुम्हारे भोक्तत्वभावको भक्तिकी आड़में छुपा कर प्रभुको भेंट कर दो. इस भेंटको प्रभु ही खोलें उसमें ही उसका मजा है, उसकी गरिमा है और तुम्हारी गरिमा है. उदाहरणकेलिये बहुत सारे लोग विवाहमें अपनी गिफ्ट खुद खोलकर उसके साथ फोटो भी खिंचाते हैं. इसमें विवाहित दम्पतिके प्रति तत्सुखका भाव नहीं है परन्तु अपने अहम्की पुष्टिका भाव है.

२८. अपना आलम्बनविभाव प्रभु हैं, सेवा नहीं. भक्ति सेवात्मिका हो तब आलम्बनविभाव प्रभुका सेव्य स्वरूप है; और भक्ति जब कथात्मिका हो तब प्रभुका श्राव्य स्वरूप आलम्बनविभाव बनता है.

२९. सेवाको जो आलम्बनविभाव बनाया जाय तो सेवा एक कर्मकाण्ड बन जायेगी. अर्थात् सेवा एक कर्तव्य बन जायेगी, चाहे भक्ति हो या न हो. अर्थात् हम सेवाके भक्त नहीं हैं परन्तु सेव्यके भक्त हैं. सेवा और उसकी विधिका जिनको अत्याग्रह है उन्होंने सेवाकी कीमत मानी है सेव्यकी नहीं

दिल है कदमों पे किसीके सर झुका हो या न हो. बंदगी है अपनी फितरत अब खुदा हो या न हो.

३०. बहुतसे लोग कहते हैं कि सेवा, भक्ति अपना कर्तव्य है इसलिये करनी चाहिये. लेकिन यह तो क्रूरता है प्रभुके प्रति. यह तो ऐसा है कि पतिन पतिको कहे कि मुझे तुम्हारे साथ स्नेह नहीं है और न है साथ रहनेकी इच्छा, केवल आदर्श वैवाहिक संस्थाके रक्षणके लिये तुम्हारे साथ विवाह कर रही हूँ. अथवा तो प चयज्ञोंमें एक यज्ञ पशु पंछियोंको दाना डालना ये है और उस कर्तव्यको निभानेकेलिये पक्षीको पिंजरेमें बन्द रखो, ऐसा है. तुम्हारा कर्तव्य ये तुम्हारा सिरदर्द है. उसके लिये प्रभुको तुम्हारे साथ रहना? किसके लिये फर्ज निभा रहे हो?

३१. आम सभामें सुनने वाले लोगोंमें विषयके बजाय वक्ता और उसकी वक्तव्य शक्तिमें अधिक अभिरुचि होती है. वक्ता विद्वान हो लेकिन उसमें मसालेदार बोलनेकी शक्ति न हो तो उसके पास सिद्धान्त समझनेकेलिये जानेवाले लोग थोड़े होते हैं.

३२. श्रवण और कीर्तन दोनों जुड़वा हैं. सुननेकी आदत हो लेकिन उसमें कीर्तन करनेकी वृत्ति न जगे तो कुछ न कुछ गड़बड़ है. और कीर्तन करनेवालेको सुननेकी अपेक्षा न हो तो उसकी अहंता ममता कहीं न कहीं छल कर रही है. (कुछ लोगोंको सुननेकी वृत्ति होनेके कारण विषयका आग्रह नहीं होता). अहंता ममताको सान्दसीमें पकड़नेकेलिये श्रवण कीर्तनका जोड़ा है (कीर्तन अर्थात् रागरागिनी गाना नहीं लेकिन उसमें रहा हुआ भाव अंदर भी लेना और बाहर भी निकालना).

३३. जहां रमण हो, मन रम जाये, वह रति.

३४. षोडश ग्रंथोंमें सब बात आधुनिकोंकेलिये ही हैं. कारण कि वह उपदेशात्मक हैं. लेकिन सुबोधिनीमें वैसा नहीं है. कारण बहुतसे वचन व्याख्या मुद्रामें हैं. षोडश ग्रंथोंमें पढ़नेवालेको पकड़ना है, सुबोधिनीमें केवल दिखाया गया है कि लेनेका अधिकार हो तो लो, नहीं तो छोड़ दो.

३५. मार्गमें निन्याणवे प्रतिशत लोगोंके मनमें यह भाव है कि मार्गका प्रचार होना चाहिये. सम्प्रदायके प्रचारकेलिये मंदिर बनाना, यह तो तुम श्रीठाकुरजीको प्रचारका माध्यम बना रहे हो, जो श्रीठाकुरजी जगत नियन्ता हैं. मार्ग श्रीठाकुरजीकेलिये है, श्रीठाकुरजी मार्गकेलिये नहीं. मार्ग रहा भी तो क्या और न भी रहा तो क्या? आज तलक अनेक मार्ग लुप्त हो गये हैं. मालिकसे घरका काम करवा कर, मालिककी नौकरी करना जैसी मूर्खता इसका नाम है. अर्थात्, स्वमार्गका प्रचार स्वमार्गीय बीज भाव वाले जीवोंकेलिये होना चाहिये. और वह सेवा और सेव्यके खुले प्रदर्शनसे नहीं, लेकिनसिद्धान्तके उपदेशसे, सत्संगसे अथवा दूसरी तरह कहा जाये तो भगवद्कपा लब्ध अपने पुरुषार्थसे ही. भगवद्स्वरूपका, मनोरथोंका, भक्तिके प्रदर्शन रूपी भोंडे तमाशे द्वारा नहीं.

३६. स्वतंत्र पुरुषार्थके रूपमें ही भक्ति होनी चाहिये. ऐसी भक्तिका आनंद ही ऐसा है कि उसको जाननेवाला पुरुषार्थोंको ठुकरा देता है. मनोरथियोंके लड़ूकेलिये अथवा प्रतिष्ठाकी कामनाकेलिये, मुखिया भीतरिया पैसाकेलिये, महाराज कदाचित सम्प्रदायके प्रचारकेलिये भी भक्ति करते हों तो ऐसी भक्तिमें आनन्द नहीं आ सकता.

३७. जो योग्य गुरु नहीं मिले तो श्रीमहाप्रभुजीमें गुरुबुद्धि रखनी. डाकघर द्वारा पत्र या मनीआर्डर भेजते हैं तब



डाकियेके भरोसे नहीं भेजते, परन्तु डाकघर एक संस्था है, इस कारणसे उसे देते है।

३८. पुष्ट करवानेका अर्थ क्या? पुष्ट करनेसे उसमें भगवान घुस नहीं जाते हैं। वह भगवान तो सर्वत्र हैं ही, परन्तु पुष्ट करवानेका अर्थ श्रीआचार्यचरणको अभिप्रेत भावात्मकताके अनुसंधानके साथ प्रभुमें सेव्य भावना करनी।

३९. सेवामें आत्मकेन्द्रितता नहीं है, सेव्य केन्द्रितता है।

४०. शास्त्रमें कहा है कि देवताओंको उनका हिस्सा, कर (टैक्स) देनेके बाद उनके साथ भावात्मक सम्बन्ध बाँधनेकी जरूरत नहीं है। देवताओंके साथ लेन देनका ही सम्बन्ध होता है। जैसे व्यापारिक सम्बन्धोंमें कामकी बात हो जानेके बाद कोई भी कारणके बिना गपशप नहीं करता।

४१. सेवा मार्गमें प्रभु करे हुये कर्मोंको ध्यानमें नहीं रखते, लेकिन कर्म करनेके हेतु हृदयमें रहे हुये भावोंको ग्रहण करते हैं।

४२. श्रीमद्भागवतमें श्रीठाकुरजीके शंगारका वर्णन “बर्हापीढम्...”. इस श्लोकमें है लेकिन उसके अनुसार हम कहाँ शंगार धराते हैं? श्रीठाकुरजी कम्बल ओढते थे परन्तु हम वह नहीं धराते हैं, कारण कि हमने श्रीमहाप्रभुजीके द्वारा निर्दिष्ट गहसेवाका प्रकार अपनाया है। गौचारण लीलाका भी सेवामें वर्णन नहीं आया। सम्पूर्ण प्रकारसे श्रीमद्भागवतके अनुसार सेवा प्रकार नहीं घड़ा जा सकता।

४३. मनोरथमें सजावट करनेमें कितने घंटे लगते हैं, लेकिन श्रीठाकुरजी उसमें आधा घंटा ही बिराजते हैं। इसमें कितनी मेहनतके बदलेमें कितना लाभ मिला, ऐसे जमा खर्चकी गिनती करें तो सेवाका भाव खंडित हो जायेगा। मेहमान आना हो उसकेलिये भोजनकी तैयारी सुबहसे करते हैं और वह आधे

घंटेमें ही भोजन कर लेता है. एवरेस्ट चढ़नेमें कितने दिन लगते हैं; लेकिन वहां पहुंचनेपर झंडा रोपनेका काम तो दस मिनिटमें ही हो जाता है. इसके पीछे समय, मेहनत और पैसेकी गिनती करोगे तो तुम घाटेमें ही हो. परन्तु ऐसे मनोरथके पीछे कीमत है तुम्हारे भावकी, तुम्हारे उत्साहकी “समय बहुत कीमती है. उसे बर्बाद मत करो.” समयके क्षणोंको व्यापारिक दष्टिसे देखना कितनी मेहनत, कितना लाभ इसकी गिनती करना ये सुविचार पश्चिमकी देन हैं, इसमें मजा कितना आया इसका विचार नहीं. ताश खेलना, घूमना, सिनेमा, नाटक आदि मजेके हरेक काममें समय तो बर्बाद करना ही पड़ता है. सेवामें भी इस दष्टिसे समय बर्बाद करना ही पड़ेगा.

४४. जो सेवामें भाग लेनेका अधिकार नहीं हो तो सेवामेंसे अपनेको विसर्जित हो जाना चाहिये. भोग धरनेके बाद टेरा देकर हम विसर्जित हो जाते हैं. शयन पश्चात् पंखे आदिकी सेवा करने अपन नहीं बैठते इसलिये पंखा मात्र ही धरनेमें आता है.

४५. जब श्रीमहाप्रभुजी स्वरूप पधराते थे, तब कहते थे कि मैं तोकूँ अपनो सर्वस्व पधराय रह्यो हूँ लेकिन ऐसा नहीं कहते कि थे कि मैं श्रीगोपीजनवल्लभ या श्रीयशोदोत्संगलालित पधरा रहा हूँ. इसलिये जो भाव श्रीआचार्यचरणने सेव्यके बारेमें बताया है वैसे सेव्यके हम सेवक हैं.

४६. सेवा करनेवाले व्यक्तिकी मृत्युके बाद उसके परिवारके सदस्य चाहें तो उन्हें (श्रीठाकुरजी) पुष्ट करवानेकी जरूरत नहीं है, परन्तु मात्र गुरुकी आज्ञा लेनेकी जरूरत है. और आज्ञा शब्दसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है. यह तो सामान्य विवेक है. कीर्तनियां वसन्त ऋतुमें पहले वसन्त बहार गानेकी

बालकके पास आज्ञा मांगता है. वर्षाऋतुके प्रारम्भमें मल्हार गानेकी आज्ञा लेता है. पंगतमें पहले भोजन कर रहे हों तो उठनेकेलिये बराबर वालेसे आज्ञा लेते हैं. शत्रु लड़नेसे पहले शत्रुसे आज्ञा लेता है. आजकल छोटी-छोटी बातोंकेलिये आज्ञा लेना विवेक नहीं परन्तु परतन्त्रता लगती है. कारण चारों तरफ स्वछंदताकी हवा फैली हुई है.

४७. **अनुग्रहस्तु रुच्या अनुमेयः** - अनुग्रह जो भक्तिका बीज है, उसका अनुमान कैसे लगे? रुचि उस अनुग्रहको मापनेका धर्मामीटर है. (जो रुचि बगैर सेवा कर रहे हो, बड़ोंके डरसे, देखादेखीसे, वत्यर्थ, इच्छा पूर्तिकेलिये) तो वह सेवा तुम्हारे नाशका हेतु बनेगी.

४८. प्राचीन कालमें श्रीमहाप्रभुजी जब सेवकको स्वरूपसेवा पधराते थे तब दोनोंमें कतज्ञताका भाव रहता था. आज सम्प्रदाय मात्र सिद्धान्तोंपर ही टिक रहा है. बालक या वैष्णव किसीमें भी कतज्ञताका भाव नहीं है. पहले जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है. सम्बन्धकी गरिमा नहीं है. इसीलिये आचार्यश्रीके भावसे ही स्वरूप पधराया जाता है और गुरुभाव आचार्यश्रीमें ही स्थापित किया जाता है.

४९. भक्तिशास्त्रकी दृष्टि अनुसार मुक्ति **ऐनेस्थेसिया** जैसी है. उसमें दुःखकी अनुभूति निवत होती है. प्रलयमें प्रभु मुक्त करते हैं और लय द्वारा अपन मुक्त होते हैं. सृष्टि तो यथावत ऐसे ही रहती है.

कृष्ण जब आत्मरमण करते हैं तब सर्वके दुःखकी निवति होती है. ज्ञानीकी उससमय मुक्त होनेमें कोई एकाधिकारिता नहीं रह जाती.

५०. भक्त, ज्ञानी और अज्ञानीके बीचमें है. ब्रह्मज्ञानकी अवस्थामें सृष्टिकी ब्रह्मके साथ मौलिक एकताकी ही अनुभूति

होती है. अज्ञानकी अवस्थामें केवल अनेकताकी ही अनुभूति होती है. दोनों अपूर्ण (इकतरफा) अनुभूति हैं. भक्त एकताको जाननेके बाद भी अनेकताको धिक्कारता नहीं है और अनेकताके आनन्दको लेते हुए एकताको भूलता नहीं है.

५१. सम्प्रदायमें वैष्णव श्रीमहाप्रभुजीकी निधिको अधिक मानते हैं. श्रीगुसांईजीकी निधिको उससे कम शक्तिमान मानते हैं. ऐसे वर्गीकरणका भाव कैसे जागा? जो ऐसा होता तो श्रीगुसांईजीकी निधिके सामने ब्रह्मसम्बन्ध होता ही नहीं. श्रीमहाप्रभु जिसे खुद पुष्ट करें अथवा तो जिसे अपने वंशजोंको साधन बनाकर पुष्ट करें उसमें कोई भेद नहीं है जो कुछ भेद है वह तो तारीखका ही भेद है. निधिका महत्व केवल ऐतहासिक दृष्टिसे ही है. उसमें पुरुषोत्तमत्वका महत्व नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीकी निधि प्राप्त हो सकती है, फिर भी जब तक यह श्रीमहाप्रभुजीके हृदयका सर्वस्व है ऐसा भाव हृदयमें न हो तब तक उसकी क्या कीमत?

श्रीमहाप्रभुजी तो भूतल ऊपर ५२ वर्ष ही बिराजे लेकिन उनकी शक्तिको उतने वर्षों तक सीमित नहीं मानना चाहिये. जो ऐसा हो तो पांच हजार वर्ष पहलेके श्रीकृष्ण और आजके श्रीकृष्णमें भेद आयेगा. प्रत्यक्ष और परोक्षमें भेद करना यह कितनी क्रूरता है.

५२. हम श्रीमहाप्रभुजीकी कानिसे श्रीठाकुरजीको जगाते हैं, भोग धरते हैं; वह भोग हमने नहीं धरा, श्रीमहाप्रभुजीने धरा है. उस कारण कदाचित हम मानसिक अस्वस्थतासे सेवा करें तो भी श्रीआचार्यचरणके भावसे प्रभु सेवा ग्रहण करेंगे, इस विचारसे कितनी भाव स्वस्थता आयेगी!

५३. जो श्रीमहाप्रभुजीके हृदयका सर्वस्व है उसके साथ अपना सम्बन्ध मात्र सेवक होनेका ही है, दूसरा नहीं.

सेवकपना स्थायीभाव है. सख्य, शंगार ये संचारी भाव हैं. उनसे स्थायीभावको नुक्सान नहीं होना चाहिये. सेवक सख्यपना भी निभा सकता है परन्तु सखा सेवक नहीं बन सकता. अपन शुद्ध सेवक ही हैं. उसकी गरिमा निभे तब तलक ही दूसरे सर्वभाव चल सकते हैं.

५४. सारी सेवा अपन कहां करते हैं ? अनौसरमें सेवा बजभक्त और स्वामिनीजी करते हैं.

५५. अपनी शक्ति और भावकी मर्यादामें रहकर सेवा प्रकार घड़ना चाहिये. भावावेशमें आकर अधिक सेवा करनेपर टेन्शन होती है और सेवा नीरस बन जाती है.

५६. वार्तामें है कि अनौसर करे पीछे वैष्णव आवे तो श्रीठाकुरजीको जगा सकते हैं और वैष्णवोंको प्रसाद लिवा सकते हैं. (जो प्रसाद रखा हुआ हो तो श्रीठाकुरजीको श्रम नहीं कराना चाहिये)

५७. एक ही समयकी सेवा करते हों तो शामको सुबहका प्रसाद लेना. लेकिन असमर्पित नहीं लेना. एक ही समयकी सेवा करते हों तो किसी समय शामको (उत्सव अथवा ग्रहणमें) फिरसे श्रीठाकुरजीको जगा सकते हैं.

५८. अनुग्रह और भक्ति एक ही चक्रके दो भाग हैं. प्रकाश पड़े तो अनुग्रह, रिफ्लेक्ट हो तो भक्ति. समुद्रका जल ऊपर चढ़कर बादल बनता है वह अनुग्रह. बरसकर सरिता बन कर समुद्रमें मिले वह भक्ति. इस प्रकार केवल दिशा ही अलग है, चक्र एक ही है.

५९. बालक अपनी नकल करता है, लेकिन बड़े होनेके बाद वह नकल नहीं करता; इसी प्रकार भक्ति प्राप्त नहीं हुई तब तक भक्तिका मनोरथ, प्राप्त होनेके बाद भगवानका ही मनोरथ.

६०. यहाँ जो मनोरथकी चर्चा है, वह कोई लौकिक वैदिक कामनाकी पूर्तिके मनोरथकी चर्चा नहीं है, जपतप स्वाध्यायसे प्राप्त होते फलके मनोरथ अथवा दुष्ट साधन, काम, क्रोधके फलसे बचनेके मनोरथकी चर्चा नहीं है, परन्तु यहाँ तो मात्र प्रभु सम्बन्धित, भक्ति सम्बन्धित मनोरथकी चर्चा है.

६१. दुनियाँमें कोई सम्पूर्ण ज्ञानी अथवा सम्पूर्ण मूर्ख नहीं है. हरेक ज्ञानी कितना ज्ञानी कि जितना वह जान रहा है. हरेक ज्ञानी किसीसे गौण, किसीसे मुख्य होता है. गौण मुख्य भाव यह एकान्तिक कथन नहीं हैं. उसी प्रकार सेवामें स्नेह मुख्य है. यह एकान्तिक कथन नहीं है. लेकिन सशर्त कथन है. कारण? अतिस्नेह हो लेकिन सेवा नहीं करे तो स्नेह गौण हो जाए; स्नेह + सेवा हो लेकिन श्रीआचार्यजीकी प्रणालीके मुताबिक न हो तो स्नेह + सेवा भी सम्प्रदायमें मुख्य नहीं है.

जिस प्रकार गन्नेके पत्ते प्रकाश ग्रहण करते हैं और मूल जलको ग्रहण करता है. पत्ते और मूल दोनों गन्नेके हैं. प्रकाशको मुख्य गिनो तो पत्ते मुख्य हैं और जलको मुख्य गिनो तो मूल मुख्य है. इसी प्रकार सेव्यस्वरूप और लीलाकथा एक दूसरेसे मुख्य हैं और गौण भी. सेवाकेलिये सेव्य मुख्य और स्नेहकेलिये लीला मुख्य है.

६२. मांबाप संततिकी सेवा करते हैं तो उसमें भक्ति कहाँ है? मित्र मित्रकी सेवा करे तो उसमें भक्ति कहाँ, मनुष्य जानवरकी सेवा करे तो उसमें भक्ति कहाँ है? (सिवाय इसके कि जानवरमें उसे परमात्माका भाव हो) बाढ़ आई हो, भूकम्प आया हो, दयालु लोग दीनोंकी सेवा करते हैं तो उसमें भक्ति कहाँ है?

६३. शरण मार्गमें भक्त केवल प्रभुपर अवलम्बित रहता है; साधनपर आधार नहीं रखता, भले ही कदाचित साधनका

सहारा भी अमुक अंशमें जरूरी होता हो. जिस प्रकार बालक मातापर ही आधारित होता है भले ही वह देखता है कि घरका मुखिया पिता ही है. पितासे (साधन) भी अगर कुछ लेना है तो वह माता द्वारा ही मिलेगा.

६४. जो केवल स्वरूपासक्तिसे प्रभुका अवलम्बन करता है, वह उत्तमभक्त है. जो माहात्म्यज्ञानसे प्रभुका अवलम्बन करता है वह मध्यमभक्त है. जो अपने साधनोंके विफल होनेपर प्रभुका आधार लेता है वह उससे उतरती कक्षाका भक्त है. और जो अपने किसी हेतुकेलिये प्रभुका आधार लेता है वह तो कनिष्ठतमभक्त है.

६५. खाली शरणागति भक्तकेलिये कल्पवक्ष नहीं है, लेकिन भक्ति ही कल्पवक्ष है. भक्तके मनोरथ भक्तिसे ही पूर्ण होते हैं. शरणागतिसे नहीं. शरणागतिके उद्यानमें भक्तिका कल्पवक्ष होता है.

६६. पुष्टिसे प्राप्त भक्ति ही पुष्टिभक्ति है. जो साधन है वह अन्तराय दूर करनेके नकारात्मक उपाय हो सकते हैं लेकिन सकारात्मक उपाय तो नहीं हैं. जिस प्रकार गेहुंका दाना जमीनमें बोया हो तो उसमेंसे अंकुर फूटेगा ही. लेकिन उसे कीड़ा या चूहा खा नहीं जाये उसके लिये उपाय करने ही पड़ते हैं, वैसे ही यह साधन हैं. उसी प्रकार वैदिक कर्म और वर्णाश्रम धर्मोंकी बाड़में रहकर भक्तिके कोमल अंकुरको कोई विपरीत भाव नुक्सान नहीं पहुंचाता.

६७. जो भक्ति हृदयमें है तो भक्तिके मनोरथका प्रश्न ही नहीं उठता. भक्ति न हो तब ही भक्तिकी वद्धिका मनोरथ हो सकता है.

६८. भक्ति सम्बन्धित मनोरथ और प्रभु सम्बन्धित मनोरथमें श्रेष्ठ मनोरथ कौन? भक्ति चाहे जितनी श्रेष्ठ क्यों

न हो, अपनेलिये प्रभुकी तुलनामें भक्ति श्रेष्ठ है; जो ब्रह्मको भजनीय बनाती हैं; तो भी मनोरथ तो प्रभु सम्बन्धित ही श्रेष्ठ है. कारण भक्ति सम्बन्धित मनोरथ अपनेलिये हैं कि मेरी भक्ति अंकुरित हो. अपने सुखकी इच्छा है. इसमें प्रभुके सुखका विचार नहीं है. प्रभुके उपभोगके मनोरथमें आत्म विकासके भाव भुलाना पड़ता दिया है. विकासकी इच्छा ही बताती है कि अभी होशमें है. वह स्वरूपकी माधुरीसे बेहोश नहीं है. प्रभुका जो मजा लेना हो तो बेहोशी बहुत अच्छी है. सिद्धान्तका मजा लेना हो तो होश अच्छा है. प्रभु मजा मिलता हो तो बीज खिले बगैर भी मिले तो क्या खराबी है?

६९. रस क्या? यह सीधी भाषामें समझानेकी कपा करो. प्रभु सम्बन्धित व्यवहार, साधना करनेमें जो आनन्द आता है वह ही रस कहलाता है क्या? स्वतन्त्र रस क्या? हास्य करुण आदि नवरस जो कहलाते हैं वह रस क्या?

विभाव, अनुभाव, संचारीभावसे निष्पन्न हुवा जो स्थायीभाव है वह रस कहलाता है. उदाहरणकेलिये श्रीरामचन्द्रजीके विवाहके नाटनमें :

(क) विभाव : सीताजी आलम्बनविभाव हैं.

(ख) उद्दीपनविभाव : सीताजीकी सुंदरता, उनकी मोहक चाल, उनके हाथमें वरमाला, वहां आसपास बैठे हुवे राजा लोग, यह सब उद्दीपन विभाव हैं.

(ग) संचारी भाव : सीताजीको प्राप्त करनेकी अद्भुत इच्छाके कारण अनुभवमें आते भाव.... घड़ीमें आशा, घड़ीमें निराशा. क्रोध, दूसरे बहादुर राजाओंकी ईर्ष्या.. इत्यादि संचारीभाव हैं.

(घ) अनुभाव : ऐसे भावोंको योग्य रीतिसे अभिव्यक्त करनेवाला अभिनय वह अनुभाव.



इन सारे भावोंमें जो रतिका स्थिरभाव है, उसका नाम रस है. उसी प्रकार प्रभुकेलिये अनुभवमें आते आकर्षणमें आलम्बनविभाव प्रभु हैं. उद्दीपनविभाव बहुत हो सकते हैं. श्रीमहाप्रभुजी श्रीयमुनाजी, कोई तादशी भक्त, शास्त्र, संसारके प्रति विरक्ति. इनमें से कोई भी भक्तिशील बननेकेलिये अपनेको उद्दीप्त कर सकता है. भक्तिमें संचारीभाव भी अनेक हैं... संसारके झगड़े, आसुरावेश, शंका, विकल्प, प्रभु उत्तर देंगे कि नहीं ...ऐसे अनेक भाव उत्पन्न होते हैं. इन सबमें जो भक्ति अखंड रहे तो वह रस है.

७०. प्रभु आलम्बनविभाव रूपमें जैसे बाहर हैं, वैसे हृदयके अंदर जो भक्तिरसका भाव है वह भी प्रभु ही हैं. उदाहरणतया बल्ब = आलम्बन. विभाव = प्रभु. प्रकाश = स्थायीभाव. प्रकाश बल्बमेंसे ही आता है वैसे ही स्थायीभाव प्रभुके कारण ही आता है. स्थायीभाव जब हृदयमें आता है तब उसे कपा कहते हैं. कारण कि प्रभु और अपनी स्थिति एक समान नहीं है. जो एक जैसा होता तो एकेशन-रिएक्शन कहते.

७१. स्वरूपासक्तिमें गुणकी प्रधानता नहीं है लेकिन गुणीकी प्रधानता है. गुलाबके फूलपर जिसकी आसक्ति है उसे केवल गुलाबकी आकृतिपर, अथवा मात्र सुगंधपर आसक्ति नहीं है. कारण यह आसक्ति कागजके फूल द्वारा या इत्र द्वारा भी संतुष्टकी जा सकती है. लेकिन वैसा तो नहीं है. वह तो गुलाबके फूलपर ही आसक्ति है. यह स्वरूपासक्ति है. रूपासक्तिसे स्वरूपासक्ति अलग होती है. रूप यह शरीरका गुण है अर्थात् रूपमें आसक्ति यह भी गुणासक्ति ही कहलाती है. जारभाववाली गोपियोंको रूपमें आसक्ति थी. उनको दूसरी गोपियोंसे उतरती हुई कक्षामें गिना जाता है. दो शब्दोंमें

स्वरूपासक्ति अर्थात् सम्पूर्णरूपमें प्रभु जिस स्वरूपसे तुम्हारे सामने आये उनमें आसक्ति.

७२. केवल भक्तिके भरोसे नहीं रहना ! व्यसन दशाको पहुंची हुई भी नष्ट हो सकती है. ऐसी भक्तिका योग तो है क्षेमकी कोई गारन्टी नहीं. जिस प्रकार तुमको लाख रूपयेकी लाटरी लगे और तुम झोंपड़ीमें रहते हो तो इस झोंपड़ीमें तुम्हारा लाख रूपया सुरक्षित है?

७३. तुम जहां हो वहांसे तुमको आगे बढ़ाने वाला फैक्टर क्या है? वह श्रीहरि ही हैं. भक्तिकी बढ़ोत्तरीकेलिये हरिमें विश्वास है. जो विश्वास हो तो भक्तिकी नीचीमें नीची कक्षावालेकेलिये भी उपाय है. जो यह विश्वास न हो तो ऊंचीमें ऊंची कक्षावालेकेलिये भी चौपट ही समझना. वह जीव भक्तिका अधिकारी नहीं है. उसकी चिकित्सा दूसरे उपायोंसे करनी पड़ेगी!

७४. भक्तिवर्धिनीमें जो उपाय बताये गये हैं वह भक्तिकी वृद्धिकेलिये हैं, भक्तिकी उत्पत्तिकेलिये नहीं.

७५. जिस रीतिसे प्रेम, आसक्ति और व्यसनके रूपमें भक्तिकी प्रवृद्धि होती है उसी प्रकारसे उसका प्रसार भी धीरे धीरे होता है. स्नेह आत्मामें बीजरूपसे होता है. इसी स्नेहका प्रसार बुद्धिमें माहात्म्यज्ञानके रूपमें, हृदयमें प्रेमके अंकुर रूपमें होगा. सेवाप्रधान व्यक्तिकी कर्मेन्द्रियोंमें व्याप्त होगा, कथा प्रधान व्यक्तिकी केवल ज्ञानेन्द्रियोंमें (कानमें, मनमें, और वाणीमें) व्याप्त होगा. व्यक्ति त्याग प्रधान होगा तो वह अपनेमें सीमित रहेगा. अत्याग प्रधान होगा तो अपना गहस्थाश्रम भी फैलायेगा. और बढ़ाये भी तो किसे खबर कि कौन किसे पकड़ेगा; जैसे कि चाचा हरिवंशजी जिस रास्तेसे पधारते थे, जिस गाँवमें रुकते थे वहां भी भक्तिका प्रसार होता जाता था.

७६. सेवामें किसीको श्रंगारमें आसक्ति होती है, किसीको सामग्री बनानेमें होती है, किसीको तीसरी ही किसी बातमें आसक्ति होती है. उस उस वस्तुमें कुशलता होनेके कारण उनका चित्त उन उन बातोंमें स्वतः प्रवण हो जाता है. लेकिन उसे उत्तम भगवदीय जानकर कोई दूसरा उसकी क्रियाको बाहरसे अनुसरण करनेका प्रयत्न जब करता है तब तो वह क्रिया कर्मकाण्ड जैसी बन जाती है. चित्त उसमें एकाग्र नहीं हो सकता.

७७. जिसमें जिस समय जो भाव उद्दीप्त करना हो उस समय वैसी क्रिया प्रभु करते हैं. अविवाहित गोप कन्याओंमें चीरहरणके प्रसंगमें और श्रुतिरूपा गोपियोंमें वेणुगीत द्वारा प्रभुने स्नेहात्मक स्थायीभाव प्रकट किया था.

७८. भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थ है. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उपरान्त भक्ति यह पांचवा पुरुषार्थ है. पुरुषार्थ अर्थात्? जीवन जीनेकी प्रणाली, ध्येय. वह एक दो दिनकेलिये या कोई शौककी वस्तु नहीं है, करी और छोड़ दी. भक्ति धर्मकेलिये नहीं अथवा न ही शास्त्रज्ञ बननेकेलिये. भक्ति कामकेलिये भी नहीं करनी और किसी कामनाकी पूर्तिकेलिये भी नहीं है. भक्ति द्वारा मोक्ष भी नहीं लेना. भक्ति अर्थकेलिये भी नहीं. उसके द्वारा अर्थोपार्जन भी नहीं करना. भक्ति केवल भक्तिकेलिये ही करनी है. भक्ति, यही साधन और भक्ति, यही फल.

७९. श्रीमहाप्रभुजीने कहा है कि लीलारहित केवल स्वरूपमें अति आसक्ति हो और उसका प्रतिरोध करनेवाली लीलासक्ति या सेवासक्ति न हो तो वह स्वरूपमें ही लीन हो जाती है. इसीलिये लीला-विशिष्ट स्वरूपमें आसक्ति होनी चाहिये.

८०. पुष्टिके चार भेद हैं:

(१) शुद्ध पुष्टि : ऐसे जीवोंने शास्त्र, सेवा, सत्संग कोई भी उपाय नहीं किया. ऐसा होते हुवे भी प्रभु उनके सामने प्रकट हुवे हैं इस कारण वे प्रभुसे प्रेम कर रहे हैं. ऐसे जीवोंको प्रभु खोज रहे हैं.

(२) पुष्टि पुष्टि : ऐसे जीव सेवा, भक्ति वगैरह वगैरह सर्व पहलुओंको जानकर भक्ति कर रहे हैं.

(३) मर्यादा पुष्टि : ऐसे जीव आधेअधूरे जानकर (गुणानुवाद अथवा स्वरूप सेवा) कथा या सेवामें प्रवृत्त होते हैं.

(४) प्रवाह पुष्टि : इन जीवोंमें गुणासक्ति भी नहीं है और स्वरूपासक्ति भी नहीं है; वह तो मात्र गुरुके उपदेशके कारण क्रियामें प्रवृत्त हैं.

८१. प्रभुकी बारह शक्तियां हैं. विद्याशक्ति, व्यामोहिकाशक्ति अविद्याशक्ति वगैरह. यह जगत प्रभुके अलग अलग गुणों और शक्तियोंकी अभिव्यक्ति है. जिस प्रकार बीजमें रही हुई विविधताकी शक्तिके कारण फूल, फल, पत्ते आदि अलग अलग रंग और आकारको धारण करके वक्षरूपमें प्रकट होता है वैसे ही प्रभुमें जो जो विविधता रहती है वह ही सर्वत्र प्रकट हो रही है. किसीमें पुष्टि गुणकी, विद्या या ज्ञानकी, वैसे ही किसीमें अविद्या या सांसारिक मोहकी अभिव्यक्ति दिखती है. कहीं मर्यादागुण, किसीमें ज्ञान, किसीमें कर्म और किसीमें भक्ति प्रकट हो रही है.

प्रभुकी कपा निरुपाधिक है. लेकिन यह कपाशक्ति शुद्धपुष्टि भक्तिमें ही विशुद्ध रूपसे पहचानी जा सकती है, जिसमें प्रभुकपा अकारण प्रकटी है. दूसरे मिश्र पुष्टिभक्तोंमें कपा होनेके पीछे कोई न कोई कारण दिखाई देता है. इसलिये निरुपाधिक कपाको उनमें देखना बेकार है.

परमात्माके जगतमें रही हुई विविध अभिव्यक्तियोंको निंदाकी दृष्टिसे देखोगे तो प्रभुका दैवी जीवोंके प्रति पक्षपात दिखाई देगा और लीलाकी दृष्टिसे निहारोगे तो प्रभुकी विविधताका आनन्द लोगे.

८२. भोजनमें मिर्च खाना शुरुआतमें असह्य लगता है लेकिन बादमें उसके स्वादमें आती तन्मयताके कारण वही आनन्द देने लगता है. इसी प्रकार प्रभुमें अतन्मय हो तो ताप होना चाहिये और तन्मय हो तो आनन्द होना चाहिये. लेकिन जो हमको ताप या आनन्द कुछ भी नहीं होता तो हमें प्रभुके प्रति स्नेह नहीं है और इसी कारण प्रभुके प्रति दूरी हमें अनुभवमें नहीं आती.

८३. हृदयका मनोरथ यह एक सांचा है. रति यह रस है. जैसे पात्रमें दूध उबलता उबलता खोया बन जाता है; निराकार दूध पेड़ा बरफी जैसा आकार धारण करनेमें समर्थ बन जाता है. वैसे ही रति उबलकर जैसे जैसे गाढ़ी होती जाती है वैसे वैसे वह साकार बननेमें समर्थ बन जाती है और मनोरथके सांचेमें ढलकर आकार ग्रहण कर लेती है.

प्रेम खुद प्रियतम बन जाता है, कोई भी व्यक्ति प्रियतम प्रेमके कारण ही लगता है. जो प्रेम किसी व्यक्तिको प्रियतम बना सकता है तो खुद प्रेम ही प्रियतम क्यों नहीं बन सकता? जब चाणक्य चंद्रगुप्तको राजा बना सकता है तो उसमें ताकत है कि वह खुद भी राजा बन सकता है.

८४. लौकिकमें यथार्थ और भ्रममें अंतर है. कारण लौकिकमें प्रेमका विषय व्यापक नहीं होता. लौकिकमें जो बाहर है वह भीतर प्रवेश नहीं कर सकता; केवल भ्रमित कर सकता है, लेकिन अलौकिक भीतर बाहर सर्वत्र है. उसकेलिये किसी वस्तुमें आकार प्रकट होना चाहिये, उसके उपरांत उसमें भाव

स्थापित होना चाहिये. यह ब्रह्म साकार हुवा, किस प्रक्रियासे? भावसे.

८५. हृदयस्थ प्रभु और सेव्य स्वरूप दोनोंमें किसका महत्व अधिक गिनना या किसीको छोटा या बड़ा गिनना?

जैसे कलाकारका भाव शिलामें आकार लेता है वैसे ही भक्तिशास्त्रकी दृष्टिसे हृदयका भाव भगवानको आकार देता है.

ध्यानवादी कहते हैं कि मनकी मूर्तिका ध्यान करो, मनकी मूर्ति दिव्य होती है, पत्थर या धातुकी नहीं; लेकिन वह लोग भूल जाते हैं कि मन भी भौतिक ही है. पत्थरको आकार दो या मनको दो, दोनों भौतिक ही हैं.

इसलिए वह दोनों मूर्ख हैं जो प्रभुको केवल बाहर ही मानते हैं अथवा जो प्रभुको केवल भीतर ही मानते हैं.

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भाव और योगसे तुम्हारे हृदयकमलमें जो मूर्ति गढ़ी जाती है वह केवल तुमने ही नहीं गढ़ी लेकिन प्रभुके अनुग्रहसे ही गढ़ी गई है. ऐसा अनुग्रह किसी सत्पुरुषपर ही होता है. यह अनुग्रह सत्य होता है यह कोई भ्रम नहीं है जिसको बाल कन्हैयापर प्रीति है उसके लिये प्रभु वास्तवमें सुन्दर बालकके रूपमें प्रकट होते हैं. **छोटो सो बाल कन्हैया..** ये कीर्तन ऐसे प्रभुका वर्णन करते हैं. प्रभु भक्तके भावके अनुसार रूप धारण करते हैं, लेकिन उसको इन दोनों अतिवादोंसे बचना चाहिये कि मानसी मूर्ति ही सर्वथा दिव्य है अथवा तो शिलामूर्ति ही केवल पुष्ट होनेके कारण दिव्य है.

८६. किसीकी प्रतीक्षामें जब आसन बिछाया जाता है तब आनेवालेको भी आनन्द और संतोष होता है कि यहां मेरी बाट जोहते हैं; आ जावेंगे तब आसन बिछायेंगे इसमें भावकी उत्कटता नहीं है, आनेवालेको अच्छा लगे वैसा नहीं है.

उसी प्रकार हृदयको भावयोगसे परिभावित करो. हृदयको एक कमलकी तरह सुघड़ करो कि प्रभुकेलिये वह आसन रूपमें तैयार हो जाये. प्रभुकी प्रतीक्षा करो. ऐसे सुंदर हृदयमें प्रभुका भी बिराजनेका मन होगा. प्रभु आवेंगे कहां से? आंख, कानके दरवाजे खुले रखो. जो स्वरूप सौन्दर्य, गुणमाधुर्य या लीलालावण्य सुना, जो प्रिय स्वरूपके दर्शन किये उस प्रमाणसे, उस दरवाजेसे प्रभु भीतर पधारेंगे.

८७. श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीमें कहा हुवा बहुत थोड़ा होता है और न कहा हुवा बहुत समझा जाता है.

८८. बी.ए. तक पहुंचे हुएको रोज क का कि की बारहखड़ी रटनेकी जरूरत है? क्या ऐसा भी कहा जा सकता है कि बी. ए. होनेके उपरान्त क का कि की कोई प्रकारसे उपयोगी नहीं रह जाते? बारहखड़ी अर्थात् विश्वास, बीज भाव दढ़ हुवा है. इसके बाद विश्वासको दढ़ बनानेकी इतनी जरूरत कहां है. साधनाके प्रयासकी जरूरत है. ऐसे तो 'अष्टाक्षर से भी भक्ति बढ़ती है' लेकिन सवाल ये है कि ऐसा कब करना? श्रोता, वक्ता और प्रसंगके अनुकूल वचन आप्त वचन हैं.

८९. भाव जिस प्रकार शिलाको आकार दे सकता है वैसे ही मनको आकार दे सकता है. (जो प्रयत्न करें तो मनमें कोई भी मूर्ति गढ़ी जा सकती है) बाहरकी तरह यह बात भीतर भी लागू पड़ती है. भाव जब आकार लेता है तो दो प्रकारसे : एक तो किसीके द्वारा गढ़े हुवे आकारमें अपना भाव स्थापित हो. दूसरे कलाकार अपने हृदयमें उभरते हुवे भावके अनुसार आकार गढ़ता है. भावसे गढ़ी हुई मूर्ति बादमें वह चाहे शिलामें हो या मनमें, लेकिन वह होती तो आनन्दात्मक ही है. इसी प्रकार भाव और योग दोनोंके सहयोगसे हृदय कमलमें मूर्ति गढ़ी जाती है. केवल प्रयत्न करनेसे (योगसे) जब कोई मूर्ति

गढ़ी जाती है तो वह भावात्मक न होनेके कारण आनन्दात्मक नहीं होती. लेकिन रतिसे जो मूर्ति गढ़ी जाती है वह तो अपने आप गढ़ी जाती है. रतिरस तापमें उफन कर घनीभूत हो जाता है. यह आकार शुद्धभावात्मक होता है.. शिलामूर्ति, धातुमूर्ति या चित्रमूर्ति भावसे गढ़ी हुई ही होनी चाहिये, यह जरूरी नहीं है. भाव स्थापित भी हो सकता है. रसोई कोई खुद बनाकर खाये, कोई बनी बनाई खाये, स्वाद तो दोनोंको ही आयेगा.

कालीदास ने कहा है : कविताका सौंदर्य कवि नहीं जानता, लेकिन काव्यरसिक पंडित जानता है. पुत्रीका सौंदर्य पिता नहीं जानता, लेकिन पति जानता है. जिसने मूर्ति गढ़ी है वह पिता है और गढ़ी हुई मूर्तिपर जिसका भाव स्थापित हुवा है वह पति है.

थोड़ेमें, भाव घड़नेमें जितना आनन्द आता है, उतना ही भाव स्थापित करनेमें भी आता है. अपना तो आनन्द लेनेके साथ सम्बन्ध है.

आचार्यचरण हरेक सेवकको ब्रह्मसम्बन्ध देनेके बाद कहते : **जा, दुकानमें जाकर तुझे जो स्वरूप अच्छा लगता हो वो स्वरूप पधरा ला.** स्वरूप तो बहुत हैं लेकिन जो स्वरूप मनको भा जाये उसमें भाव स्थापित हो गया. अच्छा लगनेवाला स्वरूप पधराना, यह स्वयंवर है.

९१. नामदेवजीने कहा है कि घी पिघला हुवा हो या जमा हुवा लेकिन है तो वह घी ही. इसी प्रकार प्रेमके घनीभूत होनेसे आकार प्रकट हो कि द्रवीभूत होनेसे निराकार हो दोनों ब्रह्मात्मक हैं.

जिन्हें प्रभुके स्वभावका पता नहीं है कि वह अंदर बाहर सर्वत्र व्यापक है वे ही सगुण निर्गुणका झगड़ा करते हैं. खाली सगुणवादी या निर्गुणवादी दोनों बीमार हैं. सर्वरूप प्रभु धरते हैं



तो वह साकार क्यों नहीं बन सकते? लेकिन इसमें फर्क इतना ही है कि जो आकार क्रियाप्रधानता (धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्रधानता) से किया तो वह भावात्मक नहीं होता. और जो रतिप्रधानतासे किया तो वह भावात्मक है.

९२. शास्त्र कहते हैं कि प्रभु सेवाके योग्य, तो शुद्ध, सुखी (दुःखी जीव सेवा करेगा तो उसे अपने दुःखको दूर करवानेका भाव रहेगा. ऐसा जीव प्रभुको सुख नहीं दे सकता) और ब्रह्मविद्याविशारद जीव ही है. इसीलिये ही शास्त्रमें नवधाभक्तिमें श्रवण, कीर्तन और आखिरी आत्म निवेदन, यह क्रम बताया गया है. श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे जीव शुद्ध होता जायेगा, सुखी और ब्रह्मविद्या विशारद होता जायेगा. आखिरमें वह दास्य और सख्यके लायक बनेगा और अंतमें वह आत्मनिवेदन करेगा. श्री महाप्रभुजीने यह क्रम भगवदआज्ञासे उल्टा कर दिया. ब्रह्मसम्बन्ध द्वारा पहले आत्मनिवेदन कराया. कारण कि कर्म और उसके फलका चक्कर बहुत भारी है. लेकिन श्रीमहाप्रभुजीने (कर्मफल की) मर्यादा तोड़नेका और पुष्टि स्थापन करनेका कार्य प्रभुके पास रखा. जो मर्यादा बना सकता है वह तोड़ भी सकता है. मर्यादामें, शास्त्रोक्त नवधा भक्तिमें, शुद्धि सेवामें साधक होगी पुष्टिमें शुद्धि साधक सेवा होगी. **शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः भगवद्सेवने योग्यानायः** (१) ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे जीव शुद्ध बनेगा (शुद्ध) (२) सर्वसमर्पण करनेसे निश्चिंत बनेगा (सुखी) (३) ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेसे ब्रह्मविशारदता आयेगी और जीव सेवाके लायक बनेगा (लम्बे जरियेमें घुसे बगैर) सेवाके अनौसरमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण करना कहा गया है. श्रीमहाप्रभुजीका क्रम इस प्रकार है : (१) आत्मनिवेदन (वह स्थायीभावका संचारीभाव जैसा दास्यभाव और सख्यभाव) (२) पाद सेवन,

अर्चन, वन्दन, कीर्तन (सेवाके अनौसरमें और सेवाके अवसरमें) (३) श्रवण, कीर्तन, स्मरण (सेवाके अनौसरमें).

९३. प्रभु अपनी सर्व शक्तियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं. उसके फलस्वरूप यह सृष्टि उत्पन्न हो रही है. बहुतसे जीव ऐसे हैं कि वह प्रभुकी अविद्याशक्तिके कारण सुखी हैं. ऐसे जीवोंकी जो अविद्या दूर करनेमें आये तो वह सुखी जीव बिचारा दुःखी हो जायेगा.

९४. ज्ञानमार्गीय ब्रह्मविद्यावान हो तो ही उसकी मुक्ति. भक्तिमार्गीय पुष्टिवान हो तो ही उसकी भक्ति सफल.

९५. सेवामार्ग रचनेमें श्रीमहाप्रभुजीने (१) साधनकी शुद्धता (२) शास्त्रीय प्रमाण (३) जीवोंकी साधन क्षमता (४) देशकालकी मर्यादा, इन सबपर नजर रखकर उपदेश दिया है. नवधाभक्तिका प्रकार तो शास्त्रमें बताया ही गया है, लेकिन श्रीमहाप्रभुजी जानते हैं कि विधिकी उष्णता भाप बनकर उड़ जायेगी. कर्मकाण्डमें भावात्मक स्वरूप खो जाता है. इसलिये शास्त्रोक्त नवधा भक्तिका क्रम बदल डाला है. उसका कारण? शास्त्रमें कहीं भी यह नहीं कहा गया कि यह नौ क्रम इस क्रममें ही होने चाहियें.

९६. कोई भी साधन जो ईश्वर अवलम्बनी हो उसके गुण श्रीमहाप्रभुजीने सेवामें गूथ दिये हैं. और जो जो गुण सेवामें नहीं रखे वे किसी दूसरे मार्ग या साधनामें नहीं हैं ऐसा विचार अपन निश्चिंततासे रख सकते हैं.

९७. भाव जब अति रूढ़ हो जाता है तब उसका आचरण मार्गके सिद्धान्तके अनुरूप नहीं भी रहता. वासुदेवदास छकड़ा सोनेकी मोहरोंको लाखके गोलेमें छिपाकर मार्गमें उसका पूजन करते करते श्रीमहाप्रभुजीके पास ले गये. श्रीमहाप्रभुजीने इस प्रकारको करनेका निषेध किया कि भगवदस्वरूपका खंडन नहीं

करना लेकिन वासुदेवदासने फिर गोपीनाथजीको भी इसी रीतिसे मोहर पहुंचाई. गोपीनाथजीने श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाके उल्लंघनका कारण पूछा. उन्होंने कहा कि गुरुका कार्य तो करना ही है भले नकमें जाना पड़े.

गोकुलेशपंथ भी इसी रीतिसे प्रकट हुवा है. श्रीगोकुलनाथजीकी आज्ञाका उल्लंघन करके उनके सेवकोंने पंथका स्थापन किया है. इसमें सिद्धान्त कुछ भी नहीं है अपसिद्धान्त ही है. फिर भी रूढ भावका कुछ उपाय नहीं है.

गज्जनधावन प्रभुके साथ क्रीडा करतेमें घोड़ा बनते और मंदिरमें घोड़ेकी तरह लघुशंका करते. इन सब अपसिद्धान्तोंकी अपन नकल नहीं कर सकते. ऐसी भावनाकी रूढता कहां है? फिर भी अपन कई बार ऐसे अपसिद्धान्तोंका ही लाभ ले लेते हैं.

९८. एक ही ब्रह्मसम्बन्ध मंत्रमें आत्मज्ञानोपदेश, भगवदस्वरूप ज्ञानोपदेश, समर्पणोपदेश, दास्योपदेश और स्नेहोपदेश इतने उपदेश दिये गये हैं.

इन उपदेशोंके सारे पक्ष ध्यानमें रखकर सेवा मार्गमें प्रवृत्त होना है. इनमेंसे एक या दोको छोड़कर सेवा करनेमें या तो सेवाका या सेवकका स्वरूप बदल जाना सम्भव है.

(क) उदाहरणकेलिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको समर्पित हो सकता है लेकिन दास नहीं हो सकता (मित्र सम्बन्ध) अथवा दास हो लेकिन समर्पित न हो. (उदाहरणकेलिये कोई अपनी बिगड़ी आर्थिक स्थितिके कारण किसीका दासपना स्वीकारे). समर्पित होना अर्थात् मैं और मेरा सब तेरा है.

(ख) केवल आत्म समर्पणका भाव हो तो भक्ति होती है; लेकिन सेवा न भी हो. और केवल दास्यभाव हो तो सेवा हो और भक्तिकी गुंजाइश हो भी और न भी हो.

(ग) कन्या पतिको आत्मसमर्पण करे तो जरूरी नहीं है कि वह दासी बन जाये. वह अर्धांगिनी बन कर ही रहे. सेवामार्गमें बढ़नेकेलिये आत्मसमर्पणका भाव बहुत सहायक नहीं होता. उसके लिये दास्यभावका उपदेश जरूरी है. श्रीमहाप्रभुजीका सेवामार्ग कर्ममार्गरूपसे नहीं करना लेकिन भक्तिमार्ग रूपसे करना है.

(घ) समर्पणके कारण गलत निश्चिंतता नहीं आ जाये कि सैंया भये कोतवाल अब डर काहेका. उसे संतुलित करनेकेलिये दास्यभावका उपदेश करनेमें आया है. दासपना भार रूपमें नहीं लगे इसलिये आखिरमें पंचाक्षरमें स्नेहोपदेश है. जिसपर स्नेह हो उसकी गुलामी भी अच्छी लगती है.

थोड़े में ब्रह्मसम्बन्ध मंत्रमें :-

(१) आत्मज्ञानोपदेश :- सेवोपयोगी दैन्यका भान करानेकेलिये.

(२) भगवत्माहात्म्यज्ञानोपदेश :- भगवदस्वरूपका ज्ञान करानेकेलिये.

(३) समर्पणोपदेश :- यह दैन्यका एण्टीडोस है. मेरी जो कुछ कमी थी उसे निकालनेकेलिये जो कुछ मेरा है उसे तुझे समर्पित करता हूं. जैसे गंगाके पवित्र प्रवाहमें गंदाजल मिलकर खुद गंगाजल बन जाता है; उसी प्रकार जीवकी सर्व इच्छा, वासना, सेवाके प्रवाहमें बहकर भगवद्मय हो जाती है.

(४) दास्योपदेश :- सेवामें प्रवृत्त करनेकेलिये.

(५) स्नेहोपदेश :- सेवाको भक्तिके रूपमें विकसित करनेकेलिये.

९९. सिद्धान्तमुक्तावली और भक्तिवर्धिनीमें जो संगति है वह सामान्य विशेष भावकी संगति है. सिद्धान्तमुक्तावलीमें सेवाका

सिद्धान्त रूपमें वर्णन है. भक्तिवर्धिनीमें सेवकको विशिष्ट उपदेश देनेमें आया है.

उदाहरणके तौरपर ब्रह्मका वर्णन, यह सामान्य वर्णन है. लेकिन भगवान, वजाधिप, परमात्मा होना यह उसकी विशेषता है. वजाधिपको ब्रह्मके तौरपर समझोगे तो उसमें घोड़ा, गधा भी शामिल होंगे. और ब्रह्मको जब वजाधिपकी तरह समझोगे तो उसमें द्वारिकाधीश भी शामिल नहीं होंगे. इतना फर्क सामान्य और विशिष्टमें होता है. अथवा दूसरे प्रकार वैष्णव तरीके हम सामान्य हैं, लेकिन पुष्टिमार्गीय तरीके हम विशिष्ट हैं. हिन्दू तरीके सब सामान्य हैं. हिन्दू तरीके शैवोंके साथ हम एक हैं और आस्तिक तरीके तो सर्वधर्मोंके साथ (नास्तिक, जैन, बुद्धके अतिरिक्त) एक हैं.

इस प्रकार जितना विशिष्टपना आयेगा उतना ही मार्ग संकरा होता जायेगा. भावरेखा नाजुक बनती जायेगी. सिद्धान्तमुक्तावलीमें समझो, एक मशीन पुष्टिमार्गीय जीवके हाथमें श्रीमहाप्रभुजीने सौपी है, लेकिन उसका उपयोग कैसे करना उसकी जानकारी भक्तिवर्धिनीमें है.

सेवकको भक्तिका उपदेश और भक्तको सेवाका उपदेश ये विशिष्ट उपदेश है.

१००. जैसे प्रत्येक पूंजीवाला व्यक्ति पूंजीवादी हो और न भी हो, वैसे ही हरेक मुफलिस आदमी साम्यवादी हो ऐसा भी जरूरी नहीं है. वैसे ही प्रत्येक भक्त भक्तिवादी ही हो या हरेक भक्तिवादी भक्त ही हो ऐसा जरूरी नहीं है. स्वभावसे भक्त होते हुए भी बहुत लोग ज्ञान कर्मके चक्करमें चढ़ जाते हैं तब ऐसा होता है.

१०१. सेवामें मानसी गुण आये वह तो उसका वीर्य गुण बताता है और भगवत्प्रवणता उसका श्री गुण बताता है.

भगवत्प्रवणता फल रूप कब होती है? जब वह मानसीमें प्रकट हो. लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि सेवामानसी होती है लेकिन भगवत्प्रवणता नहीं होती.

लोभी सेवककी वार्तामें उसने मानसीमें भोग धरे हुए दूधमेंसे शक्कर निकाली. इस वार्तामें उसका चित्त लोभप्रवण था.

१०२. हिमालय अपनेसे कितना दूर है. लेकिन उसका विप्रयोग होता है? मां बच्चेसे जरा दूर जाये तो तुरन्त उसको विप्रयोग होता है.

दूरी यह विप्रयोग नहीं है लेकिन दूरीका अनुभव होना ये विप्रयोग है. विप्रयोगका अर्थ ही स्नेह है. जितना अधिक स्नेह उतना अधिक विप्रयोग.

१०३. स्नेही और चापलूस दोनोकी बाह्य क्रिया एक सी होती है. दोनों स्तुति करते हैं, लेकिन स्नेहीको कोई अपेक्षा नहीं होती तो भी वह प्रियको खुश करनेकेलिये हृदयसे मधुर स्तुति करता है. चापलूस भी स्तुति करता है, लेकिन उसके हृदयमें स्वार्थकी दुर्गन्ध भरी होती है.

१०४. गमलेमेंसे वक्षको खेंचे तब जड़के साथ साथ ही गमलेके आकारकी मिट्टी भी बाहर खिंच आती है. गमला = देह, मिट्टी = बीजभाव, जड़ = आत्मा. देह जब छूटती है तब सूक्ष्म देहके साथ भक्ति भी खिंच जाती है. उसी प्रकार भक्ति आत्मामें ओतप्रोत हुई होनी चाहिये. प्रसार बगैर प्ररोह बढ़ जाये तो वक्षको चाहे जब मिट्टीमेंसे अलग कर सकते हैं.

१०५. शास्त्रमें कहा है कि ऋण चुकाये बगैर जो मनुष्य सन्यास ले तो उसकी अधोगति होती है. श्रीमहाप्रभुजी अव्यावत होनेकेलिये नहीं कह रहे हैं, लेकिन कहते हैं कि तुम जो अव्यावत हो तो पूजा श्रवणादि कर सकते हो.

१०६. मृत्युके बाद आत्मा पहले तेज शरीर, बादमें वायु, बादमें आकाश शरीर धारण करती है. बरसातके समय यह आत्मा जल शरीर धारण करती है और पथ्वीपर गिरती है. बादमें औषधि शरीर, अन्न शरीर धारण करती है. फिर भोजन द्वारा मनुष्यके पेटमें जाती है. वहांसे वीर्य शरीर, गर्भ शरीर, अंतमें गर्भ छोड़करके मनुष्य आदि देह धारण करती है. अन्न शरीर प्राप्त करनेके बाद जो भोजन नहीं मिले और शरीर सूख जाये तो फिर से इसी चक्करमेंसे निकलना पड़ता है.

भोजन करते हुवे अपन किसी न किसी जीवका भक्षण करते हैं इसलिये हम यमराजका कार्य करते हैं, इसलिये अमुक हिस्सेको देनेकी शास्त्रमें आज्ञा है.

ब्राह्मण लोग भोजनको यज्ञ मानते हैं. खुराक आहुति है. प्राण अपान आदि पांच वायुको आहुति देनेमें आती है. और प्राप्त भोजनमेंसे यम, चित्रगुप्त आदि देवोंकेलिये अमुक कौर पहले निकालना पड़ता है. इस उदाहरणमें कर्मकेलिये देवता हैं, देवताकेलिये कर्म नहीं. समर्पण भी एक कर्म ही है, इसलिये समर्पणकेलिये श्रीठाकुरजीको पधरानेकी स्वार्थी भावना कभी नहीं रखनी. गोस्वामी बालकोंके तपेलीके श्रीठाकुरजी अनप्रसादी न खानेकेलिये निष्प्रयोजन कर्मकाण्डकेलिये हैं. सेवा मार्गमें देवकेलिये कर्म और कर्मकेलिये अपन होते हैं.

१०७. ब्रह्मको जानना है, सेवा नहीं करनी. पूज्यता भगवानकी है ब्रह्मकी नहीं. ब्रह्मसम्बन्धात्मक भी नहीं, पुरुषोत्तम सम्बन्धात्मक है. लेकिन भावात्मक नहीं, जबकि यशोदोत्संगलालित भावात्मक हैं, केवल सम्बन्धात्मक नहीं. क्या भाव? श्रीयशोदाजीमें जैसा वात्सल्य भाव है वैसा भावात्मक. उसमें भी श्रीगोपीजनवल्लभ भावात्मक और ये भी

श्रीआचार्यजीके सर्वस्व भावके अनुरूप, ऐसे स्वरूपकी सेवा करनी है.

ब्रह्मको पात्र माने तो भगवान रसस्थानीय, भगवानको पात्रस्थानीय मानें तो पुरुषोत्तम रसस्थानीय, पुरुषोत्तमको पात्र मानें तो यशोदोत्संगलालित रस स्थानीय वैसे ही यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्णको पात्रस्थानीय मानें तो गोपीजनोका भावरस स्थानीय है. लेकिन रस पात्रका भेद नहीं करो तो ही समझ सकोगे.

अथवा तो जैसे नारियलमें गोलेकी कटोरी और उसका जल दोनों ही एक तत्व हैं. एक घनीभूत, दूसरा द्रवीभूत. सेवन रसका करना है, पात्रका नहीं. थोड़े आगे बढ़ें तो गोपीजनोंके भावको पात्र स्थानमें रखें तो रसको श्रीआचार्यजीके भावमें रख सकते हैं.

श्रीआचार्यचरणोंका भाव अर्थात् जो रस गोपीजनवल्लभ रूपी पात्रमें भरा हुआ है वह. उसमें श्रीआचार्यचरणोंके भावसे स्वरूप रसस्थानीय. उसमें अपना भाव रहा हुआ है. जब श्रीमहाप्रभुजी स्वरूप पधराते तब कहते कि **मैं तोकूँ अपनो सर्वस्व पधराय रह्यो हूँ** ऐसे नहीं कहते थे कि मैं श्रीयशोदोत्संगलालित या श्रीगोपीजनवल्लभ पधरा रहा हूँ, इसलिये जो भाव श्रीआचार्यचरणने सेव्यमें बताया है उस भाव्यके अपन सेवक हैं. वैसे होते हुवे विचारो कि श्रीमहाप्रभुजीने किसमें अपना भाव स्थापित किया? श्रीगोपीजनवल्लभमें, गोपियोंके श्रीयशोदोत्संगलालितमें, श्रीयशोदाजीके पुरुषोत्तममें (यहांके बाद भाव खत्म हो जाता है) ऐसे तीनों भाव एक होते हुवे भी उत्तरोत्तर भाव बहुत सूक्ष्म बनता जाता है. अपनने श्रीआचार्यजीके भाव्यको सेव्य बनाया है, इसलिये सेवामें बहुत व्युत्क्रम मिलेगा; जो यशोदाजी या गोपीजनोंमें न हो लेकिन



अपनेमें हो. ऐवरेस्ट पर्वत चाहे जितना फैलावमें हो लेकिन शिखरका भाग प्रमाणमें कितना संकरा होता जाता है, वैसे ही सेवाकेलिये स्वरूप बहुत संकुचित है; लेकिन समझनेके लिये स्वरूप बहुत व्यापक है. श्रीआचार्यजीकी विधिसे सेवा करते करते उनके हृदयका सर्वस्व रूप प्रकट होगा. वहां सम्बन्धसे ही भाव प्रकट होगा. जैसे विवाह सम्बन्धके बाद साथ रहते रहते भाव विकसित होता है वैसे ही श्रीआचार्यचरणने शुरुआत सेवासे करी है; भक्तिसे नहीं करी.

पहले सेव्य सेवकका सम्बन्ध स्थापित करो, भाव हो अथवा न हो. धीरे धीरे भाव खिलेगा, लेकिन थोड़े समय तो भावना करनी ही पड़ेगी कि अपना भाव सम्बन्ध खिल रहा है.

पुरुषोत्तम सम्बन्धात्मक है और ये अन्य पुरुषकी तुलनामें स्वतः उत्तम रहेगा ही. इसकी उत्तमता अपने भावके साथ घटित नहीं होती.

जिस प्रकार पिता-पुत्र, भाई-भाई परस्पर सम्बन्धात्मक हैं, भाव हो अथवा न हो. लेकिन स्नान सूतकका व्यवहार तो करना ही पड़ता है. लेकिन दोस्तीका सम्बन्ध भावात्मक है. भाव है वहां तलक दोस्ती. भाव खंडित होनेके बाद उसके साथ स्नान-सूतकका भी सम्बन्ध नहीं.

१०८. व्यास आश्रमके बाहर श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे कष्णदास तीन दिन तीन रात खड़े रहे. इस प्रसंगमें उनके कर्मकी कीमत नहीं है लेकिन उनकी अडिग निष्ठाकी कीमत है. ऐसे खड़े रहनेमें उनको या श्रीमहाप्रभुजीको कोई फायदा नहीं हुवा, फायदा हुवा दुनियांको जिसको दृष्टान्त मिला कि सेवक कैसा होता है.

दास्य होना अर्थात् क्या करना, उसका कार्यक्रम गढ़ना. लेकिन सख्य या आत्मनिवेदन तो मात्र भाव ही है, उसकी कोई अलग संहिता नहीं है.

भगवानको स्वामी तरीके स्वीकारना वह दास्य है. स्नेहसे दास्य स्वीकारना वह सख्य. आत्मनिवेदन अर्थात् आत्मपरमात्म भावसे सख्य स्थापन करना. प्रभुके साथ स्नेहात्मक सेवाके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका संकोच न रहे; प्रभु मेरे मैं प्रभुका यह विश्वास टिका रहे, यह है सख्य.

फिर भी साधन दशामें ऐसी निश्चिंतता नहीं आती लेकिन उस विश्वास, निश्चिंतता करनेका क्या उपाय? उसके लिये अंतरंग सेवाकी भावना करनी. संयोग-वियोगकी भावना करनी. स्वरूप सम्बन्धी, लीला सम्बन्धी भावना करनेसे ऐसी निश्चिंतता आयेगी.

१०९. श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंकी टीकाके ऊपर फिर टीका होती है. कारण? श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंमें शब्द थोड़े लेकिन भाव बहुत हैं. इसलिये देश काल अनुसार भाव भावना समझनेकेलिये टीकायें लिखी गई हैं.

११०. नामरूपके पात्र गिनें तो उसमें पुरुषोत्तम रस स्थानीय है और सब पूजनीय हैं. पुरुषोत्तमको पात्र गिनें तो उसमें यशोदोत्संगलालित रस स्थानीय है और अधिक पूजनीय है. यशोदोत्संगलालितको पात्र स्थान में गिनें तो उसमें भरा हुआ रस गोपीजनवल्लभ अधिक उत्कष्ट है. गोपीजनवल्लभको पात्र गिनें तो उसमें श्रीवल्लभहृदय सर्वस्वरूप रस अधिक उत्कष्ट है. गोपीजनवल्लभ मथुरा पधार सकते हैं लेकिन आचार्यहृदय सर्वस्व रूप मथुरा नहीं पधारता.

००००००००००

## जलभेद

१. पुष्टिभक्ति अर्थात् जो भक्ति कपासे उत्पन्न हुई है वह अर्थात् हृदयमें जो स्नेह प्रकट होता है वह प्रभु कपासे प्रकट होता है. इस अर्थमें अपना मार्ग कपामार्ग कहलाता है. ऐसे तो ईसाई धर्म भी कपामार्ग कहलाता है; लेकिन उसमें पापसे छुटकारा अपने प्रयत्नसे नहीं लेकिन प्रभुकपा द्वारा होता है; इस अर्थमें कपा समझानेमें आती है.

२. जिस प्रकारका भक्तिका फूल खिलता है उस प्रकारका बीज हृदयमें बोया हुआ है ऐसा समझना चाहिये. सेवा करते समय सानुभाव हो, आनन्द हो, मन चौंटा जाए तो वह पुष्टिभक्तिका फूल है.

३. भक्तिभाव दढ़ न हो तो वह बारम्बार खंडित हुआ करता है. बीज भाव दढ़ न हो तो घर छोड़नेकी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये. स्नेहकी बारहखड़ी तुम घरमें पढ़ सकते हो, घरके बाहर नहीं.

४. सेवा तब ही करनी जब फुरसत हो, रुचि हो. कुटुम्ब, अथवा व्यापारमें अतिव्यस्त हो उसे सेवा नहीं पधरानी चाहिये. कारण सेवामें अति जल्दबाजी करनेसे प्रभुके सुखका विचार नहीं रहता और अंतमें सेवा एक क्रियाकांड बन जायेगी.

५. सेवा नहीं कर सकता उस व्यक्तिको सत्संग करना अथवा तो जो व्यक्ति सेवा कर रहा है उसका परिचारक बन कर रहना चाहिये.

६. पुराने समयमें जो मुखिया, भीतरिया थे, वह नौकर नहीं थे लेकिन वैष्णव होते थे. वह लोग घरमें सेवा न कर पानेके कारण महाराजके परिचारक बन कर रहते थे. महाराज भी इन लोगोंको अत्यन्त मानसे रखते थे और उनकी आज्ञा बगैर कोई भी काम नहीं करते थे.

७. ऐसे भगवदीयोंके संगसे सेवा प्रकार बहुत बढ़ गया. बादमें ऐसे भगवदीय मिलने बंद हो गये और विपुल विस्तृत सेवा अकेले निभी नहीं इसलिये नौकरीकेलिये कंठी देकर वैष्णव बनानेकी पद्धति शुरू हुई. उसके दुष्परिणामस्वरूप आज नाथद्वारामें बहुत करके मुखिया, भीतरिया, अवैष्णव कंठी पहरे हुये शैव हैं. भोग धरते समय शिवाय ओम् नमः जपते हैं.

८. जात व्यसन और अजात व्यसनका अर्थ ?

भक्तिमार्गीय जीवका प्रकार: (१) दढ़ भाव (२) अदढ़ भाव.

अदढ़ भाव (१) व्यावत (२) अव्यावत.

अव्यावत (१) जात व्यसन (२) अजात व्यसन.

अजात व्यसन (१) परिचर्या, कथाश्रवण परायण (२) कथाश्रवण परायण.

९. व्यावतिका अर्थ व्यस्तता है व्यापार नहीं. अर्थात् मनुष्य धंधा, परिवार, रोग अथवा धर्म किसीमें भी लगा हुआ हो. फुरसत ही न मिलती हो तो उसे सेवा नहीं करनी चाहिये.

१०. अव्यावत अर्थात् जिसके पास समय, संजोग तथा रुचिकी अनुकूलता हो.

११. प्रतिकूलता हो तब तुम्हें अंदाज लगाना पड़ेगा कि किसका पलड़ा भारी है. प्रतिकूलताका अथवा उसको जीतनेकी तुम्हारी शक्तिका.

१२. कथा कीर्तन सब पुष्टिमार्गीयोंकेलिये अनिवार्य है. सेवा सबकेलिये नहीं है.

१३. किस व्यक्तिके मुंहसे कथा सुननी यह जलभेद ग्रंथमें बतानेमें आया है.

१४. कैसे व्यक्तिको कथा कहनी यह पंचपद्यानि ग्रंथमें दिखानेमें आया है.

१५. योग्य सुननेवाला तथा योग्य कहनेवाला हो तो रसाभास नहीं होता, हृदयमें रस स्थिर रहता है.

१६. विषयी लोगोंकी धर्ममार्गमें प्रवृत्ति राग आदिके माधुर्यकेलिये होती है. कीर्तनके भावके बजाय उसके रागकी सुंदरताके कारण कीर्तन अच्छा लगता है. श्रीठाकुरजीके दर्शनके बदले आज केसरका हिंडोला है, इसलिये दर्शनकी अधिक इच्छा होती है.

१७. सब धर्म प्रभुकी ओर जाते हैं ऐसा कहनेमें आता है. उसका अर्थ ऐसा नहीं करना कि सब मार्गोंकी खिचड़ी पकाओ. ऐसा कहनेसे तो स्वमार्गमें निष्ठा घट जायेगी. उपरोक्त वाक्य स्वधर्ममें निष्ठा घटानेकेलिये नहीं परन्तु स्वमार्गमें निष्ठा दढ़ करनेकेलिये कहनेमें आये हैं.

१८. एक प्रभु अनंत रूपोंमें, अनंत प्रकारोंसे, अनंत लोगोंको मिलते हैं. भाव और रुचिकी भिन्नताके कारण मार्गकी भिन्नता तो रहेगी ही.

१९. मथुराके महलमें प्रभुने प्रवेश किया, तब हरेकको अलग अलग रीतिसे दर्शन हुवे. किसीको सुंदर बालकके रूपमें, किसीको कामदेवके रूपमें, किसीको धर्मरक्षकके रूपमें. - ऐसे, हृदयका स्वभाविक भाव प्रभुमें आरोपित होता है.

२०. विषयी :- अर्थात् जिसे विषयमें रुचि है और उससे छूटनेकेलिये प्रयत्न भी नहीं करता.

मुमुक्षु :- अर्थात् जिसे विषयमें रुचि है लेकिन उससे छूटनेकेलिये प्रयत्न करता है.

२१. गंधर्वोंकेलिये गाना यह सहज धर्म है. इसलिये गानेके कारण उनका ध्यान प्रभुके प्रति न जाता हो तो वह उनका गुण अथवा दोष नहीं है. जिस प्रकार क्रूरता यह शेरका सहज धर्म है दोष नहीं. उनके द्वारा गाया गया भगवद यशोगान

उत्तम ही है. लेकिन परम फल तो अन्य विषयोंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करके केवल भगवद गुणगान करनेसे ही होता है. जबकि गानेकी वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि भगवद गुणगान गौण बन जाता है. अच्छे गायकोंके मुखसे भगवदगुणगान सुनते समय तुम्हें एकाग्रता रखनी पड़ेगी कि जिससे तुम उनके स्वर, राग, तालके प्रवाहमें बह न जाओ.

२२. हमारे कीर्तनोंमें ताल, शब्द, स्वरकी समप्रधानता है और सबसे ऊपर भाव है. कीर्तन गाते समय कहीं भी शब्द टूटना नहीं चाहिये. शास्त्रीय संगीतमें ताल, राग सर्वोपरि है. उसमें शब्द टूटे या गीतका भाव खंडित हो जाय तो भी उसमें दोष नहीं गिना जाता.

२३. प्राचीन कालमें कोई भी शास्त्र (संगीत, नृत्य, चित्रकला) जब पढ़ाते थे तो प्रभुके माध्यमसे पढ़ाते थे, जिससे कलाके साथसाथ प्रभुका ज्ञान सहज रीतिसे हो जाता था. खेलमें भी धर्म, ज्ञानकी बातोंका सहारा लेते थे. लेकिन अब तो सब उल्टा है. इसलिये भगवदकथामें भी लौकिक बातोंको प्रमुखतासे लाना पड़ता है.

२४. वैष्णवोंके ठाकुरजी और बालकोंके ठाकुरजीमें भेद नहीं मानना. भेद वैष्णव और बालकोंमें दरजेका है, ठाकुरजीका नहीं. कारण कि श्रीमहाप्रभुजीने ही वैष्णवोंको श्रीठाकुरजी पधराये थे. और इनही वैष्णवोंके ही ठाकुरजी बादमें आपश्रीके घर पधारे हैं, जो श्रीगुसांईजीने अपने बालकोंको पधराये थे. इसलिये दोनोंमें भेदभाव नहीं रखना चाहिये.

२५. अपने ठाकुरजी प्रत्येककेलिये सर्वोपरि होने चाहियें. निधिस्वरूपोंसे भी अधिक मानना चाहिये.

२६. चौदह ब्रह्माण्डोंका नायक तुम्हारे घर बिराज कर तुम्हारी सेवा ले रहा है यह उसकी कपाकी झुकान है.

२७. हम हर रोज रातको सो जाते हैं, लेकिन घरमें विवाह आदि प्रसंग हो तो रातमें भी जागते हैं. तब केवल सुबहकी ही सेवा हो तो भी हिंडोला अथवा कोई दूसरा उत्सव हो तब श्रीठाकुरजीको संध्या समय जगा सकते हैं.

२८. तामस बढ़ता है तब क्रोध द्वेष आता है. राजस बढ़ता है तब लोभ आसक्ति बढ़ती है. सत्व बढ़ता है तो शांति बढ़ती है.

आकर्षण और द्वेष दोनों मानसिक अशांति हैं. जबकि आकर्षण ये सकारात्मक अशांति है और द्वेष नकारात्मक अशांति है.

यह तीनों गुण जगतकी हरेक वस्तुमें होते हैं. सत्व गुणके असरमें बुद्धि निश्चयात्मक होती है. रजोगुणके असरमें बुद्धि संशयात्मक होती है और तमोगुणके असरमें बुद्धि भ्रमित होती है.

२९. गुंजामालामें चारों भाव आ जाते हैं. सफेद रंगका गुंजा = सत्वगुण, लाल रंग = रजोगुण, और काला निशान = तमोगुण. धागा = निर्गुण भाव दर्शाता है. गुंजामाला धरानेके बाद ही शंगार पूर्ण माना जाता है. कारण कि हृदयमें रहे हुवे चारों भाव प्रभुको अर्पण करते हैं. अर्थात् हे प्रभु, क्रोध आये तो वह तेरे लिये ही आये, लोभ वक्ति तेरे दर्शनके लिये ही जागे. प्रेम जागे तो भी तेरे लिये ही जागे. हृदयमें उत्पन्न होते सारे भाव तेरे सम्बन्धी ही हों और तुझे ही वे अर्पण हों.

३०. जैसी प्रभुकी लीला, वैसा भाव जागे. भाव प्रभु अपने हाव भावसे जगाते हैं. अपने बलसे भाव नहीं जन्मता .

३१. चारों वर्णको शुद्ध करनेकी रीति अलग अलग होती है. जिस प्रकार सूती, रेशमी, ऊनके वस्त्रोंको साफ करनेकी रीति अलग अलग होती है लेकिन जो व्यक्ति चारों वर्णोंमें से एक

भी वर्णमें उसके संस्कारानुसार न रहता हो तो वे सब मलेच्छ हैं. मलेच्छोंसे कोई संस्कार अथवा शुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखी जाती, जैसे बहुत गंदा कपड़ा उसे धोओ अथवा न धोओ खास फरक नहीं पड़ता.

३२. वर्णोंको वर्णमें रहनेके लिये शास्त्रमें शुद्धि बताई गई है. ब्राह्मणको ब्राह्मण रहनेकेलिये जितनी शुद्धिकी जरूरत है उतनी शुद्धि शूद्रको शूद्र रहनेकेलिये नहीं.

३३. स्वच्छता जो आंखसे दिखाई दे वह शुद्धि जो आंखसे देखी न जा सके. उदाहरणार्थ अस्तपतालकी चादर स्वच्छ हो सकती है परन्तु शुद्ध नहीं.

३४. अपरस पालनेमें भी शास्त्र समझदारी बरतनेको कहता है. अपरस जड़तासे नहीं पालनी. उसमें भी बताया है कि दिनकी तुलनामें रात्रिमें आधी अपरस पालनी. रात्रिकी अपरसकी तुलनामें बीमारीमें आधी अपरस और बीमारीकी अपरसकी तुलनामें परदेस अथवा यात्रामें आधी अपरस पाल सकते हैं. छूट है आज्ञा नहीं. उदाहरणार्थ कुंएकी मेंड ऊपर किसीने थूका हो तो वह पानी घरमें छू जाता है. लेकिन परदेसमें नहीं. देश कालके अनुरूप अपरस पालनी होती है.

३५. श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है कि देव द्रव्य खानेवाला व्यक्ति पतित है. जो श्रीमहाप्रभुजीका होगा वह देव द्रव्य नहीं खायेगा. और जो देवद्रव्य खायेगा तो श्रीमहाप्रभुजीका नहीं रहेगा. श्रीमहाप्रभुजीने तो स्वपनमें भी ऐसी अपेक्षा नहीं रखी होगी कि उनके वंशज और वैष्णवोंकी ऐसी दुर्गति होगी. आज इस अर्थमें मार्गके ५०० वर्ष पूरे हो गये हैं.

३६. श्रीदामोदरदासजी सम्बलवालेके श्रीठाकुरजी सर्व सम्पत्तिके साथ पधारे तब श्रीमहाप्रभुजीको खबर दी गई कि लक्ष्मीके साथ नारायण पधारे हैं. तब आपश्रीने कहा कि



लक्ष्मीको श्रीयमुनाजीमें पधराकर श्रीनारायणको घरमें पधरा लाओ. आज हमने उस सम्पत्तिको बचानेकेलिये श्रीठाकुरजीको सार्वजनिक न्यासोंमें विसर्जित कर दिया है. जबकि किसीने भी अपने बच्चेको अनाथालयमें नहीं डाला.

३७. श्रीमहाप्रभुजीने सोनेकी कटोरी गिरवी रख कर श्रीठाकुरजीको भोग धरा, लेकिन वह प्रसाद आपश्रीने नहीं लिया, गायोंको खिला दिया. कारण कि उसे देवद्रव्य गिना. बादमें जब दूसरी जगहसे द्रव्य प्राप्त हुवा तब पहले कटोरी छुड़ाई, बादमें भोग धर कर प्रसाद लिया.

३८. भगवदसेवा अथवा कथाका व्यापारिकवक्तिके साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें पुष्टित्व नहीं रहता. उदाहरणार्थ सप्ताहमें यजमान चुनना, श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये न्यास या मनोरथी देखना जिससे कि धन मिले लेकिन टैक्स थोड़ा लगे.

३९. द्वारिकाके श्रीकृष्ण और गोकुल मथुराके श्रीकृष्ण इन दोनोंमें भेद नहीं समझना. जिस प्रकार अपने घरका व्यक्ति घरमें (गोकुल) अपने साथ अलग प्रकारका व्यवहार करता है और वही व्यक्ति दफ्तरमें (मथुरा-द्वारिका) सीमामें रहकर व्यवहार करता है, ऐसे भेद समझना.

४०. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि प्रभुके सर्व गुणोंका वर्णन करे वह ही पूर्णवक्ता है. प्रभुके ब्रह्मस्वरूपका ही वर्णन करे और उनकी लीला न स्वीकारे अथवा तो मात्र लीला ही स्वीकारे और ब्रह्मस्वरूप न जानता हो तो वह अधूरा वक्ता है. सम्पूर्ण भगवद्गुणगानके ज्ञान बगैर भक्ति दढ़ नहीं होती.

४१. जिस व्यक्तिपर अपनको स्नेह होता है उसके दुर्गुण जानते हुवे भी उसपर स्नेह रहता है. उदाहरणार्थ दूसरेका बालक अगर शैतान हो अथवा झूठा हो तो ऐसा लोग कह देते हैं. और वैसा ही अपना बच्चा होय तो वह नटखट है अथवा

होशियार है ऐसा कहते हैं. ऐसे उसके दुर्गुणमें भी गुण दष्टि रखते हैं. उसी प्रकार प्रभुकी विपरीत लीला देखते हुए भी अथवा प्रभु हमें दुख क्लेश भुगतवा रहे हैं तो भी उनपर प्यार थोड़ा सा भी कम न हो तो वह है सच्चा स्नेह.

४२. सामान्य तरीकेसे प्रत्येक कर्म कामनाके साथ जुड़ा हुआ है. लेकिन निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है. जैसे शक्कर बिना दूध शुरुआतमें अच्छा नहीं लगता लेकिन आदत पड़नेके बाद फीका दूध भी अच्छा लगता है, वैसे ही निष्काम कर्मकी मिठास भी लम्बे समयमें अनुभवमें आयेगी.

४३. कर्म न करनेमें भी कामना तो छिपी हुई होती है. उदाहरणार्थ किसीसे नफरत होनेके कारण उसका खून करनेकी इच्छा होती है. लेकिन समाज और प्रतिष्ठाके डरसे वह कर्म अपन नहीं करते हैं.

४४. ज्ञान, भक्ति लिपट जैसे हैं. साधक सीधे ऊपर चढ़ सकता है. निष्काम कर्म सीढ़ियों जैसा है. ऊपर चढ़ते देर लगती है.

४५. बहुत निष्काम कर्मी, अति विरक्त मनुष्य जीवनमें कठोर एवं शुष्क हो जाता है. (यह उसके साइड इफेक्ट्स हैं). कारण कि अपनी जितनी भी निष्कामता और विरक्तिकी अपेक्षा हैं वह सब दूसरेसे रखता है. गांधीजीने अपनी पत्नी और बालकोंके प्रति काफी क्रूरता बरती थी.

४६. बहुत अपरस पालनेमें क्रोध बहुत आता है. बहुत तप करनेवाले मुनि तुरन्त शाप दे देते थे. कडक अपरस पालनेवाले छू न जायें इस कारण हरेक तरफका संपूर्ण ध्यान रखते हैं. लेकिन मात्र क्रोधसे भी छू जाते हैं इसका ही ध्यान नहीं रखते.

४७. श्रीमहाप्रभुजीने कहा है कि जो जीव ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके पश्चात सेवा न करे उसके बारेमें उसके पुष्टिमार्गीय जीव होनेमें ही शंका है. इसके उपरान्त आपश्री आज्ञा करते हैं कि सेवाके कारण घरमें अति क्लेश रहता हो तो सेवा नहीं पधरानी. अपमानजनक वातावरणमें करी हुई सेवा सेव्यको सुख नहीं पहुंचा सकती.

४८. **ममता छोड़ी** उसीकी अहंता बढ़ जाती है और अहंता छोड़े उसकी ममता बढ़ जाती है. कारण कि दूसरेका सहारा लेकर पहलेको छोड़ते हैं.

४९. सविकल्प समाधि अर्थात् जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंका भान रहता है. अर्थात् मैं ज्ञानी समाधि लगा रहा हूं ऐसा भान रहता है और निर्विकल्प समाधिमें वह भान छूट जाता है. ज्ञाता ज्ञेय लुप्त हो जाते हैं. मात्र ज्ञान बाकी रह जाता है.

५०. योगी लोग जब भक्तिमार्गकी बात करते हैं तब वह गड़बड़ पैदा करते हैं.....अमुक मूर्तिका ध्यान धरो. बादमें जब मन स्थिर हो जाये तब उसका त्याग करो.... वह लोग भक्तिको साधन मानते हैं और **प्रभुमें एकत्व** इसको साध्य मानते हैं. ऐसी बातोंको सुनकर तुम अन्य मार्गकी ओर चले जाओगे. अपने लिये भक्ति साधन नहीं है. जिस स्वरूपको ध्यानकेलिये पकड़ते हैं वह अंतमें छोड़नेकेलिये नहीं पकड़ते लेकिन उसे और अधिक पकड़नेकेलिये पकड़ते हैं. यह स्टेपिंग स्टोन या छलांग लगानेका तख्ता नहीं है.

५१. टैक्सीका उपयोग नियत स्थानपर पहुंचनेकेलिये करते हैं. बादमें उसे छोड़ देते हैं. टैक्सीके साथ अपना कोई लगाव नहीं है. लेकिन अपनी गाड़ीका उपयोग पूरी सावधानीके साथ

करते हैं. उसको छोड़ देनेकेलिये उसका उपयोग नहीं करते हैं. उतना ही फरक योगीकी भक्ति और भक्तकी भक्तिमें है.

५२. भक्त कष्णका ग्राहक नहीं है परन्तु प्रेमी है. रूपका ग्राहक रूपका लाभ लेनेके बाद रूपवतीको छोड़ देता है जबकि प्रेमी तल्लीन बन जाता है.

५३. पुरुषप्रकृतिके जीव भगवदलीलाका मजा लेनेवाले हैं और स्त्री प्रकृतिके जीव लीलामें भाग लेने वाले हैं. जैसे रेसमें प्रेक्षक वर्ग रेसका मजा लेता है और घोड़े मजा लिये बिना रेसमें भाग लेनेवाले होते हैं.

५४. पशु और स्त्रीप्रकृतिके जीव आसुरी जीव हैं. लेकिन इसको गलत अर्थमें नहीं लेना क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीने कहा है कि आसुरीजीव भी प्रभुके सेवक हैं. यह लोग स्वयं मजा लिये बिना प्रभुप्रदत्त कार्यको करते रहते हैं.

५५. पुरुषोत्तमके प्रथम परिचयमें वह पुं भाव दिखायेगा. अर्थात् वह भक्तके हृदयमें रहे हुये रसका मजा लेगा. लेकिन अधिक परिचय होनेपर उसके गूढ़ स्त्रीभावका परिचय होगा. अर्थात् भक्त भोक्ता बनकर पुरुषोत्तमका मजा ले सकेगा.

५६. बारिशका पानी कुंएमें पड़े, छतपर पड़े, बागीचेमें पड़े, समुद्रमें पड़े तब वह अलग अलग गुण दोषवाला हो जाता है. इस प्रकार बरसातका पानी अपने स्वभाव अनुसार नहीं लेकिन पात्र अनुसार फल देता है, वैसे ही वक्ताके भेदसे प्रभुके गुणमें भेद लगता है. यह जलभेदका सार है.

५७. प्रभु द्वारा दिया गया भाव स्थिर रहता है, खेंचनेपर निकल जाता है. भाव प्रभुदत्त है.

५८. जैसे भक्तमें प्रभु सम्बन्धी भाव उत्पन्न होता है, वैसे ही प्रभुमें भी भक्तके प्रति भाव उत्पन्न होता है. प्रभु भी भावुक हैं.

५९. भगवदकथाकी नौकरी तो अधमाधम है. जो वक्ता बिक जाता है तो बोलनेमें सत् नहीं रहता.

६०. श्रीगोकुलनाथजी दिल्लीसे आगे रात्रिमें यात्रा कर रहे थे तब आपके सेवकने कहा कि कुछ भगवदचर्चा करो, नींद आ रही है. आपश्री ने तुरंत उत्तर दिया कि नींद उड़ानेकेलिये भगवदचर्चा? इसकेलिये तो अपन लौकिक चर्चा करेंगे. भगवदचर्चा साधन नहीं है. इससे जाननेको मिलता है कि भगवदचर्चा निर्हेतुक करनी चाहिये. उसको सस्ती नहीं बनाना चाहिये.

६१. पाकिस्तानके शरणार्थी डा. परमानंदको यहां घरकी तलाश थी. उनको वैष्णव होनेके कारण एक सेनेटोरियममें जगह मिली लेकिन उसको उन्होंने नहीं स्वीकारा, कारण कि तिलक और वैष्णवताके नामपर घर नहीं चाहिये. अपना धर्म, सुविधा या प्रतिष्ठाको प्राप्त करनेका साधन नहीं बनना चाहिये.

६२. पुराणोंका स्रोत अगाध है. पौराणिक उसकी नहर जैसे होनेके कारण भगवदानन्द, भगवदविरह वगैरह गुण मूल स्रोतमेंसे उनमें बह रहे हैं. जिस प्रकार अभिनेता अपने कथानकमें अति तन्मय हो जाते हैं तब वे कथाके वास्तविक पात्रके अनुसार अभिनय करते हैं. इसमें महानता मूल स्रोतकी है. वह (पौराणिक) तो अल्प पात्र ही है. यह होते हुये भी गायकमेंसे भगवदगुणगान स्वप्रयत्नसे निकालना पड़ेगा. जबकि पौराणिक, नहर होनेके कारण ये बहता हुवा भगवदयश बगैर प्रयत्नके अपनेमें प्रविष्ट होगा.

६३. स्मति, मति, प्रज्ञा और प्रतिभा ये चारों बुद्धिकी तेजस्विताकी माप हैं.

स्मृति : भूतकालका ज्ञान. मति : भविष्य कालका ज्ञान, आगे क्या होगा. प्रज्ञा : भूत, भविष्य तथा वर्तमानका ज्ञान. ये तीनों बाहरकी वस्तुका भीतरमें प्रतिबिम्ब है. लेकिन प्रतिभा : भीतर रहे हुवे ज्ञानकी बाहर अभिव्यक्ति है.

६४. श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है कि शास्त्रका अभ्यास करके सेवा करो जिससे कि अन्य भक्ति अथवा मत द्वारा डिगनेका भय कम हो.

६५. श्रीगोकुलनाथजी अपरसमें थे तब एक वैष्णवसे छुए जानेपर आपश्रीने उससे तीन बार पूछा कि तू कौन है? तीनों समय एक ही उत्तर मिला कि राज मैं वैष्णव हूं. श्रीगोकुलनाथजीको लगा कि इसको जातिका भान नहीं है लेकिन वैष्णव भाव सुदढ़ है. इसलिये वैष्णवसे अपन छुवाए नहीं जाते.

६६. वर्णाश्रम धर्मको जान बूझकर नहीं तोड़ना चाहिये. लेकिन ज्ञान भक्तिके आवेशमें टूट जाय तो कोई चिंता नहीं.

६७. सेवाके नियमोंका सतत अनुसंधान रखनेसे भाव प्रभुकी ओर जानेके बदले नियमोंमें ही अटक जायेगा.

६८. बहुत सारे व्यक्तियोंमें प्रसंगानुसार भावका दर्शन होता है. नंदमहोत्सवके समय नाचने लगे, कथा सुनते समय अश्रुपात हो लेकिन घर जाकर इनमेंसे एक भी भाव हृदय में नहीं रहे. इसीलिये तो कहा है:

भाव भक्ति भादों नदी, आवत ही गहेराय.

गहेराई तब जानिये, जब जेठ मास ठहेराय.

६९. प्रभुका सुख और उनका सौन्दर्य दोनोंका अनुपात जानना चाहिये. उत्सवमें शंगार जरूर करो लेकिन हररोज अति शंगार धरना यह प्रभुके लिये हितकर नहीं है.

७०. उसी प्रकार हिसाबकी अपरस तुमको साधक बन जायेगी अन्यथा तो बाधक बनेगी.

७१. अपरस पालनेका कारण यह है कि तुम्हें ऐसी वस्तु अथवा व्यक्तिका स्पर्श नहीं होना चाहिये कि जिससे तुम्हारेमें विजातीय भाव आवे. इस वस्तुका विचार अपरस छोड़ देनेपर ही आता है. अस्तपतालमें बीमारका ओपरेशन स्वच्छतासे करना तब तक स्वच्छताका क्या लाभ है यह न समझमें आवे लेकिन यह स्वच्छता छोड़ देनेपर जो कष्ट खड़े हो जाते हैं तब उस स्वच्छताकी कीमत पता चलती है.

७२. ब्राह्मणोंको वेदाभ्यास करना चाहिये लेकिन उस वस्तुको समझे बिना उसका अतिरेक हो गया. यह ब्राह्मण भी समझे बगैर गड़बड़ मंत्र बोल जाते हैं और पैसा मांगते हैं. परिणामस्वरूप लोगोंके मनसे उतर गये. पैसा नहीं मिलता इसलिये वेदाभ्यास भी बंद हो गया. अनुपात न समझनेपर तो अमृतके कुंडमें भी डूब कर मर जाते हैं और मात्रामें जहर लेनेपर जीवन बच जाता है.

७३. समझे बगैर वेद बांचने वालोंमें शब्दोंकी गुनगुनाहट ही सुनाई देती है. जैसे सार्वजनिक हवेलीओंमें मात्र झांझकी आवाज सुनाई देती है. कीर्तनोंके भावकी मिठास खो जाती है.

७४. धर्म अधर्मका आधार देश, काल, मंत्र, कर्ता, कर्म वगैरह पर अवलम्बित होता है. कोई वस्तु एक देशमें धर्म होती है, दूसरे देशमें अधर्म. ब्रह्मसंबंधका मंत्र अपरसमें ही बोला जाता है. अपवित्र अवस्थामें बोलनेसे अधर्म हो जाता है. क्षत्रियके लिये युद्ध धर्म है. सन्यासी, ब्राह्मणकेलिये वह अधर्म है.

७५. अपना सब लौकिक (जन्म दिवस, विवाह आदि) प्रभुमें जोड़ देना चाहिये. अन्य दिनोंकी अपेक्षा खानेकेलिये दो चीज

अधिक बनाओ लेकिन वह श्रीठाकुरजीकेलिये बनाओ. श्राद्धमें भी श्राद्धकी वस्तु श्रीठाकुरजीको भोग धरनेके बाद ही श्राद्धका भोजन करवाओ.

७६. श्रीगिरिधरजीने श्रीगुसांईजीसे सातों स्वरूपको इकट्ठा अन्नकूट आरोगानेकी दो बार आज्ञा मांगी. आप दोनों समय चुप रहे. तीसरी बार फिर आज्ञा मांगनेपर जबाब दिया, **यासों लौकिक बढ़ेगो** और उसका उदाहरण उसी समय साबित कर दिया. श्रीशोभा बेटीजी घरके श्रीठाकुरजीकी सेवासे जल्दी पहुंचकर वहां दर्शन करने पधारे. तब श्रीगुसांईजीने कहा क्या घरके ठाकुरजीकी तुलनामें इन सात स्वरूपोंकी महत्ता अधिक है? ऐसे जब पुष्टिमार्गरूपी रथके सारथी भूतल पर बिराजते थे तब ही गाड़ी पटरीपरसे उतर गई थी, तो आजके समयकी तो बात ही क्या करनी.

जैसे शादीमें, मेलेमें जाते हैं तो लौकिक व्यवहार निभानेकेलिये जाते हैं. वैसे ही, घरके बाहर दर्शनादिकमें जायें तो वह व्यवहार निभानेके लिये ही जाएं. बाकी प्रभु तो घरमें ही बिराज रहे हैं.

७७. फूल मंडलीमें फूलोंको लोगोंकी तरफ रखते हैं. प्रभुकी ओर तो फूलके डंठल और धागेकी गांठ ही होती है. तो तुम लोगोंको रिझा रहे हो या प्रभुको? ऐसे ही अन्नकूटमें चावलका कोट ऊंचा दिखानेकेलिये नीचे खाली बरतन जमाये जाते हैं. रीति मुताबिक खाली बरतन प्रभुको भोग नहीं धरने लेकिन जनताको खुश करना होता है !

७८. स्नेह थोड़ा हो, सेवा न निभे तो तंत्रोक्त रीतिसे विष्णुपूजन तो करना ही चाहिये. यह भी न निभे तो स्मरण और वह भी न निभे तो शरणागतिका भाव तो निभाना ही





८६. अहम् धागा है जिसके द्वारा आत्मा, अंतःकरण, देह, प्राण, इन्द्रिय, वगैरह सब बांधनेमें आये हैं.

८७. जो सर्वथा ही अहम् न रहे तो प्रभुको निहारना, सुनना, स्पर्श करना कुछ भी न हो.

८८. अहम् का सदुपयोग दुरुपयोग और अनुपयोग हो सकता है. **सदुपयोग** : भक्ति करनेमें अहम्का सदुपयोग है. **अनुपयोग** : ज्ञानी लोग प्रारम्भमें इसका पूरा उपयोग करते हैं. ज्ञान प्राप्त होते ही इसको फेंक देते हैं. **दुरुपयोग** : प्रवाही जीव मायामें रचे पचे रहकर उसका दुरुपयोग करते हैं. अथवा तो जो अहंकारी जीव ऐसा मानते हैं कि इस अहम्की डोंगीसे मैं संसार सागर पार कर जाऊंगा, वे भी दुरुपयोग कर रहे हैं.

८९. छोटीमोटी सिद्धि प्राप्त करके सष्टिका पालनहार बन जानेका अहंकार रखनेपर प्रभुके क्रोधको सहना पड़ेगा.

९०. ब्रह्ममें जो सायुज्य साधते हैं उनको ब्रह्म चाहे तो साथमें अथवा अलग भी रख सकता है. जिस प्रकार सागरमें नदी मिले तो भी अपना अलग अस्तित्व रखती है. उसकी उष्णता अलग होती है. उसके तथा सागरके जीव जंतु अलग होते हैं और जिसे अन्डर वाटर करेन्ट कहते हैं. यह प्रवाह बहुत समय तक समुद्रमें अलग बहता है. प्रभुको फलदान देनेकी इच्छा हो तो प्रभु जीवको पूरी रीतिसे अपनेमें मिला नहीं लेते, द्वैत स्थिर रखते हैं और फलदानकी इच्छा होनेपर अलग करते हैं.

९१. भगवानकी गुणासक्तिके कारण होती स्वरूपमें आसक्ति = मर्यादा भक्ति. प्रभुके स्वरूपमें आसक्तिके कारण होती गुणासक्ति = पुष्टि भक्ति.

९२. वल्लभ रोम रोम रस झलके. जो जा रस के अधिकारी भरत सम्हारे न छलके. जो उस रसका अधिकारी नहीं है उसमें वह रस भरनेपर वह छलक जाता है.

९३. बूलामिश्रको पहले ही भगवद्साक्षात्कार हो गया था. पश्चात वह श्रीमहप्रभुजीके पास आये. आपश्रीने कहा कि तुझे तो साक्षात्कार हो गया है, तू यहां क्यों आया है? उसने कहा कि साक्षात्कारके बाद तो मुक्ति मिलती है लेकिन मुझे तो भक्ति चाहिये इस कारण आया हूं.

९४. पातंजल योगके आठ अंग :- मन तथा देहकी शुद्धिकेलिये

**यम** : अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह.

**नियम** : शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान.

**प्राणायाम** : श्वासको नियमित लेना, छोड़ना अथवा रोकना.

**आसन** : स्थिर सुआसन पर बैठना, देहका सहयोग लेना.

**प्रत्याहार** : विषयोंसे इन्द्रियोंको बचाना. अर्थात् देखते हुवे भी न देखना, आवाज होते हुवे भी न सुनना. ऐसे सब कुछ अपनी स्वेच्छासे कर सकना.

**धारणा** : नाभिकमल, हृदयकमल, मस्तक, नासिका... वगैरह स्थानोंपर दष्टि केन्द्रित करनी.

**ध्यान** : जहां इच्छा हो वहां मनको लगाना.

**समाधि** : ध्येय, ध्यान और ध्याता इन तीनोंका भेद लुप्त होना और अत्यन्त अभेद वृत्तिमें स्थित होना.

९५. भागवत योग अलग है. धारणा : देश बंधन : मूर्तिको चित्तमें धारण करना. सर्वांगपूर्ण मूर्तिकी कल्पना यह धारणा. उसके एक एक अंग पर ध्यान देना यह ध्यान.

९६. भक्तिका अंग योग बने तब श्रीपुरुषोत्तम दर्शन हो सकता है. लेकिन योगका अंग भक्ति बने तब मात्र आत्मदर्शन ही हो सकता है.

९७. धारणा अपने अंगमें नहीं लेकिन परमात्माके अंगमें होगी.

९८. भक्तिमें ध्यान धारणाका चक्रवत् आवर्तन होता है.

९९. पहले चरणार्विन्दका ध्यान करना, बादमें एक एक श्रीअंगका ध्यान करते करते ऊपर चढ़ना मुखारविंद तक. जो चरणार्विंदका ध्यान करते हों और उसमें कोई विघ्न न आये तब ही ऊपर चढ़ना.

१००. अपनको चित्तकी एकाग्रताके बदले भाव प्रवणतापर अधिक भार देना चाहिये.

१०१. पहले रानी बागमें शेरको छोटे पिंजरेमें बंद रखते थे तो इतनी छोटी जगहमें बंद शेर बकरी जैसा बन जाता था. लेकिन अब शेरको बड़े विस्तृत क्षेत्रमें छोड़ते हैं, जिसमें गुफा हो, पानीका झरना हो, टेकरी हो. ऐसी रीतिसे रखनेसे शेर शेरकी तरह जीता है. उसका मन प्रफुल्लित रहता है. उसी प्रकार विरक्तिसे सूखा हुआ मन प्रभुको अर्पण करनेमें प्रभुको क्या मजा? लेकिन सेवा प्रणालीमें मनको विस्तृत स्थानमें छोड़ना चाहिये. सेवा, श्रंगार, सामिग्री, कीर्तन वगैरहमें मन फिरनेसे प्रफुल्लित रहता है. ऐसे प्रसन्न और भावसे सराबोर मन प्रभुको अर्पण करनेमें मजा है.

००००००००००००

